



चन्द्रकला नाटिका

26.
3

साहित्यदपंगकार आचार्यविश्वनाथप्रणीता
Sahityadarapankar Acharya Viswanatha's

चन्द्रकलानाटिका

CHANDRAKALA NATIKA

(संस्कृत हिन्दी व्याख्या समन्विता)

(With Sanskrit Hindi Commentary)

सम्पादकः

Edited by

प्रभातशास्त्री साहित्याचार्यः

Prabhat Shastri Sahityacharya

संस्कृतव्याख्याकारः

Sanskrit Commentary by

तारिणीश आ व्याकरणवेदान्ताचार्यः

Tarinish Jha Vyakaran Vedantacharya

अनुवादकः

Translated by

शिवशंकर त्रिपाठी

Shiva Shanker Tripathi

[यह संस्करण एकमात्र प्राप्त प्राकृत-छाया-रहित एवं त्रुटित पाण्डुलिपि के आधार पर संपादित होकर मुद्रित हुआ है। इसमें प्रयुक्त पाठोद्धार तथा प्राकृत-छाया पर हमारा पूर्णाधिकार है। कोई प्रकाशक बिना अनुमति के इसका उपयोग नहीं कर सकता, करने पर उसके विरुद्ध कापी राइट ऐक्ट के अनुसार वैधानिक कार्यवाही की जायगी।]

(सर्वेधिकाराः प्रकाशकाधीनाः)

प्रका	शक
देवभाषा प्रकाशन	दारागंज, इलाहाबाद
मूल्य	आठ रुपये
पंचम संस्करण	सन् १९८४
मुद्र	क
देववाणी मुद्रणालय	बैरहना, प्रयाग-३

विश्वनाथ का स्थिति-काल

संस्कृत साहित्य के इतिहास में कविराज विश्वनाथ सम्मान्य आलंकारिक और कवि हुए हैं। उनका साहित्यशास्त्र का लक्षणग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' अपनी सुबोध एवं स्पष्ट शैली के लिए अत्यन्त लोक-प्रिय है। उसमें काव्य तथा नाट्य-तत्त्वों की प्रामाणिक मीमांसा है। विश्वनाथ के पिता, पितामह कवि तो थे ही उनकी बहुत बड़ी विद्वद्मण्डली भी थी जो साहित्यविद्या में निष्णात थी, इसका पता हमें 'साहित्यदर्पण' में उद्धृत छन्दों से चलता है। अतः संस्कृत-साहित्य के पाठकों के लिए कविराज विश्वनाथ का नाम और कृतित्व नया नहीं है। उनकी प्रशस्त कृति 'चन्द्रकला नाटिका' जो अब तक उपेक्षित पढ़ी थी उसका सांगोपांग प्रकाशन पाठकों के लिए नवीनता अवश्य रखता है।

मध्यकालीन इतिहास (१२वीं शती ई०) के पश्चात् विश्वनाथ की स्थिति है और वे १४वीं या १५वीं शती ई० में किसी समय रहे, उत्कल प्रदेश के कर्लिंग नरेश नरसिंहभानुदेव चतुर्थ की सभा में महासांन्धिविग्रहिक के रूप में उनकी प्रतिष्ठा थी उनकी स्थिति और काल के सम्बन्ध में इतनी-सी धारणा सामान्य-तया है। किन्तु उनके ग्रन्थ एवं तत्कालीन इतिहास के प्राप्त शिलालेख आदि में कुछ ऐसी सामग्री उपलब्ध होती है जिससे हम उनके काल के सम्बन्ध में 'इदमित्थम्' निर्धारण करने के सूत्र भी पाते हैं। यहाँ संक्षेप में उन साक्ष्यों एवं प्रमाणों के परिप्रेक्ष्य में विश्वनाथ की काल स्थिति पर विचार किया जाता है।

'साहित्यदर्पण' में अलाउद्दीन नूपति (सुल्तान अलाउद्दीन १२६५—१३१६ ई०) का उल्लेख है।^१ तथा जयदेव के 'गीतगोविन्द'^२ नैषधीयचरित^३

१. साहित्यदर्पण परिच्छेद ४ :

सन्धौ सधंस्वहरणं निग्रहे प्राणविग्रहः ।

अलाउद्दीननूपतौ न सन्धिनं च विग्रहः ॥

२. साहित्यदर्पण परिच्छेद १० ।

३. वही परिच्छेद ।

कृष्णानन्द कवि कृत 'सहृदयानन्द'^१ के छन्द उदाहरण रूप में उद्धृत किये गये हैं, एवं रस के सम्बन्ध में धर्मदत्त के मत का उल्लेख है।^२ इन ग्रन्थकारों का स्थिति-काल (कृष्णानन्द और धर्मदत्त को छोड़कर) १२वीं शती के मध्य है, यह सर्वविदित इतिहास है। 'कृष्णानन्द' कवि सम्भवतः विश्वनाथ के समकालिक एवं तद्देशीय थे। वे भी विश्वनाथ की तरह किसी वृषति की राजसभा में सान्धिविग्रहिक पद पर नियुक्त थे, उनके महाकाव्य की पुष्पिका में इसका उल्लेख है—'इति श्रीसान्धिविग्रहिकसकलकविकुलमौलिमण्डनश्रीकृष्णानन्द-

कृत सहृदयानन्दमहाकाव्ये.....।' कर्लिंग नरेश चतुर्थ का एक ताम्रपत्र मिलता है जिसमें 'कृष्णानन्द सान्धिविग्रहिक महापात्र का उल्लेख है^३ ताम्रपत्र का समय वही हो सकता है जो नरसिंह चतुर्थ १४वीं शती के उत्तरार्द्ध से १५वीं शती के प्रथम शतक में शासनाख्ये।^४ अतः 'सहृदयानन्द' के रचयिता कृष्णानन्द की कर्लिंग में ही स्थिति होने के कारण उनका कविराज विश्वनाथ के समकालीन होना बहुत सम्भव है जिसके कारण उन्होंने अपने समकालिक परिचित कवि के छन्द को 'साहित्य दर्पण में उद्धृत किया, क्योंकि 'सहृदयानन्द' 'गीतगोविन्दम्' और 'नैषधीयचरित' के समान ऐसा प्रथित महाकाव्य नहीं था कि उसका उल्लेख सामान्यतया लक्षण ग्रन्थों में किया जाता। कृष्णानन्द नरसिंह चतुर्थ की सभा में थे, नरसिंह चतुर्थ का समय १४वीं शती उत्तरार्द्ध है, अतः कृष्णानन्द के कृतित्व का उल्लेख

१. वही परिच्छेद।

२. तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते,
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः,
तस्माद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ॥

—साहित्यदर्पण परिच्छेद ३।

३.तत्र विजयसमये पार्श्वे महापात्रकृष्णानन्दसान्धिविग्रहिक महापात्रलाण्डुरथ आचार्य, महापात्रगोपीनाथसान्धिविग्रहिक....।

४. डिस्क्रिप्टिव कैटलाग—संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स आफ उड़ीसा पृ० ७४।

करनेवाले कविराज विश्वनाथ के स्थिति-काल की पूर्व सीमा १४वीं शती का पूर्वार्द्ध^१ हुई। अर्थात् इसके पूर्व विश्वनाथ की स्थिति नहीं होनी चाहिए।

अब पर-सीमा पर विचार करें। 'प्रतापरुद्रयशोभूषण, के टीकाकार कुमारस्वामी ने टीका में, साहित्यदर्पण, का उल्लेख किया है।^१ काव्य प्रकाश के टीकाकार गोविन्दठक्कुर ने अपनी प्रदीप-टीका में कविराज विश्वनाथ के मत की आलोचना की है।^२ गोविन्दठक्कुर का उल्लेख काव्यप्रकाश के टीकाकार कमलाकार भट्ट ने किया है कमलाकार भट्ट की टीका १६१२ ई० में लिखी गयी।^३ अतः गोविन्द ठक्कुर १६४० ई० के पूर्व रहे होंगे। कुमारस्वामी-विजयनगर सम्राट् मल्लिकार्जुन की सभा को अलंकृत करते थे, यह मान्यता है। मल्लिकार्जुन देवराय द्वितीय के पुत्र थें, देवराय द्वितीय की मृत्यु १४४६ ई० में हुई, उसके बाद ही मल्लिकार्जुन सिंहासनारूढ़ हुए।^४ अतः १४५० ई० कविवराज विश्वनाथ के स्थिति-काल की सीमा हुई।

ऊपर निर्धारित पूर्व एवं पर-सीमा के अनुसार कविराज विश्वनाथ १४वीं शती ई० उत्तरार्द्ध^१ से लेकर १५वीं शती ई० पूर्वार्द्ध^२ के बीच किसी अवधि में वर्तमान थे।

इनके स्थिति-काल के सम्बन्ध में और निकटतम प्रमाण हमें उपलब्ध हैं। विश्वनाथ के पिता चन्द्रशेखर भी सान्धिविग्रहिक एवं कई भाषाओं के कवि थे।

१. सम्मोहानन्दसम्भेदो मदोमद्योपयोगजः इत्यादि साहित्यदर्पणे ।
(परिच्छेद ३।१।४६)
२. अर्वाचीनास्तु, यथोक्तस्य काव्यलक्षणत्वे काव्यपदं निर्विषयं प्रविरल-विषयं वा स्यात् ।' (प्रदीप)—'प्रविरलविषयं वा निर्विषयं वा स्यात्' (साहित्यदर्पण । परिच्छेद प्रथम)
३. वसुध्वतु ऋतुभूमिते गतेऽब्दे नरपतिविक्रमतोऽथ याति रौद्रे ।
तपसि शिवतिथौ समापितोऽयं रघुपतिपादसरोरुहेऽपितश्च ॥
४. भारतीय इतिहास का उन्मीलन, प्र० ४२१ ।

उनका एक छन्द विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के व्यञ्जना प्रकरण में उद्धृत किया है,^१ जिसमें श्लेष से शिव-भवानी तथा राजा भानुदेव और उनकी रानी उमादेवी का वर्णन है। स्वयं विश्वनाथ ने छन्द की टिप्पणी करते हुए इसका स्पष्टीकरण किया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि विश्वनाथ के पिता राजा भानुदेव की सभा में सान्धिविग्रहिक थे। भुवनेश्वर के लिंगराज मन्दिर के पार्श्ववर्ती पार्वती मन्दिर में एक शिलालेख प्राप्त है जिसमें भानुदेव तथा महारानी उमादेवी का नामोल्लेख है।^२ इसी प्रकार विशाखापत्तन के सिंहाचलम् मन्दिर के भी एक शिलालेख में उमादेवी का नाम मन्दिर-निर्माण के लिए धनदात्री के रूप में उद्धृत है।^३ इस द्वितीय शिलालेख का समय १३७६ ई० है। १३७६ ई० से १४११ ई० तक नरसिंह भानुदेव चतुर्थ ने राज्य किया है जिनके पिता-माता भानुदेव और उमादेवी थे। १३७६ ई० का शिलालेख जिसमें केवल उमादेवी का ही नाम है, उनके वंशव्य काल का है उस समय उनके पुत्र नरसिंह भानुदेव चतुर्थ राज्य कर रहे थे। कविराज विश्वनाथ ने अपने पिता चन्द्रशेखर का उल्लेख 'साहित्यदर्पण' में सान्धिविग्रहिक विशेषण के साथ किया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वनाथ ने जब 'साहित्यदर्पण' लिखा उनके पिता चन्द्रशेखर सान्धिविग्रहिक पद पर थे और विश्वनाथ ने परम्परागत उपाधि के रूप में उक्त विशेषण का उल्लेख किया होगा। अथवा न भी रहे हों तो भी चन्द्रशेखर ने उक्त छन्द भानुदेव की प्रशस्ति में तब लिखा है जब भानुदेव और उमादेवी दोनों जीवित थे, अतः यह घटना १३७६ ई० किं वा १३७६ ई० के पूर्व

१. दुर्गालङ्कितविग्रहो मनसिजं सम्मीलयंस्तेजसा,
 प्रोद्यद्वाजकुलो गृहीतगरिमा विष्वगवृतो भोगिभिः ।
 नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरिगुरौ गाढां हर्षि धारयन्,
 गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभः ॥

२. स्वस्तिश्रीभानुदेवस्य प्रवर्द्धमानं विजयराज्ये त्रयोदशाङ्कुऽभिलिख्य-
 माने श्री उमादेव्या.....।

३. उड़ीसा हिस्टारिकल रिसर्च जनरल भाग ३, पृ० १४६ ।

की है। पिता चन्द्रशेखर की मृत्यु के पश्चात् पिता के स्थान पर ही कविराज विश्वनाथ को नरसिंह भानुदेव चतुर्थ ने अपना सान्धिविग्रहिक नियुक्त किया होगा।

भानुदेव तृतीय के पश्चात् कविराज विश्वनाथ का स्थिति-काल नितान्त स्पष्ट है। किन्तु हम इसे बहुत दूर नहीं ले जा सकते। क्योंकि सान्धिविग्रहिक का पद अपने पिता के स्थान पर ही कविराज विश्वनाथ को मिला होगा। चन्द्रशेखर की उक्त प्रशस्ति भानुदेव तृतीय के जीवनकाल की है जिसका शिलालेख पार्वती-मन्दिर में है। इन राजाओं का वंशवृक्ष इस प्रकार प्राप्त होता है—

कविराज उल्लासदास के आश्रयदाता नरसिंह तृतीय (१३२८-१३५८), चन्द्रशेखर के आश्रयदाता नरसिंह भानु तृतीय (१३५३-१३७८), विश्वनाथ कविराज के आश्रयदाता नरसिंह चतुर्थ या निशशङ्कभानुदेव (१४००-१४२०) रहे। और इन्हीं की सभा में विश्वनाथ जी का लेखन-कार्य प्रारम्भ हुआ।

जिस अलाउद्दीन का उल्लेख विश्वनाथ ने साहित्यदपण में किया है वह खिलजीवंश का दिल्ली का सुलतान अलाउद्दीन ही है, दूसरा नहीं। उसके क्रूर व्यवहार की ही प्रसिद्धि इतिहास में है। एक अलाउद्दीन बहमनी राज्य में भी हुआ है जिसका शासनकाल १४३५-१४५८ ई० तक रहा है। उसके समकाल या बाद में विश्वनाथ की स्थिति नहीं हो सकती। क्योंकि विश्वनाथ के पिता चन्द्रशेखर १३७३ ई० के पूर्व भानुदेव की प्रशस्ति लिखते हैं, यदि उस समय भी हम विश्वनाथ का जन्म स्वीकार करें तो १४३५ ई० तक ६० वर्षों से ऊपर का समय बीत जाता है, जिसके बाद हम 'साहित्यदपण' की रचना और उसमें बहमनी के अलाउद्दीन शासक का उल्लेख सम्भव नहीं मान सकते।

चन्द्रशेखर की उक्ति श्लेषात्मक प्रशस्ति की है, इसलिए वह प्रशस्ति भानुदेव के पुत्र के समय की न होकर भानुदेव के समय की होगी; यतः श्लेष अलंकार में प्रच्छन्न प्रशस्ति राजा की गयी है जो सामने सुनाये जाने के औचित्य का संकेत करती है। यदि भानुदेव के पुत्र के समय यह प्रशस्ति लिखी गयी होती तो प्रशस्ति का रूप श्लेष प्रच्छन्न न होकर और भी प्रकट होता।

अतः १३७३ ई० में सान्धिविग्रहिक पद पर विश्वनाथ के पिता चन्द्रशेखर

की स्थिति स्वीकार कर लेने पर यह मानना पड़ेगा कि विश्वनाथका जन्म उसके पूर्व १३५० ई० के लगभग अवश्य हो गया रहा होगा और 'साहित्यदर्पण' की रचना १३८० से १४०० ई० के बीच कभी हुई होगी और कविराज विश्वनाथ १४वीं शती के उत्तरार्द्ध तथा १५वीं शती ई० के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे। 'चन्द्रकलानाटिका' की कथावस्तु भी उनके आश्रयदाता से सम्बन्धित है। इस नाटिका की रचना भी उन्होंने अपने और अपने आश्रयदाता के यौवन-काल के प्रथम चरण में की होगी। अर्थात् १३७५ से १३९० ई० के बीच में। गजपति राजाओं के वंशवृक्ष क्रम में विश्वनाथ नरसिंहदेव चतुर्थ के सान्धिविग्रहिक थे। सिंहाचलम् मन्दिर के एक शिलालेख^१ से ज्ञात होता है कि नरसिंहदेव ने षष्ठ अभिषेक वर्ष के उपलक्ष्य में एक नयी प्रथा का प्रचलन किया जिसे 'निशंक भानुभोग' की संज्ञा दी गयी। स्पष्ट है कि नरसिंहदेव चतुर्थ 'निशंक भानुदेव' नाम से भी ख्यात रहे। इन्हीं के दरवारी और अपने समकालिक कवि कृष्णानन्द महापात्र के काव्य 'सहृदयानन्द' के छन्द विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में उद्धृत किया है। अस्तु, नरसिंहदेव चतुर्थ के पुत्र निशंकभानु की किसी विजय के उपलक्ष्य में चन्द्रकला की रचना का अनुमान करना समीचीन नहीं है। उनकी रचनाओं के क्रम में 'चन्द्रकलानाटिका' का स्थान प्रथम, 'प्रशस्ति' रत्नावली का चतुर्थ और 'साहित्यदर्पण' का सप्तम या अन्तिम होना चाहिए। क्योंकि इन ग्रन्थों में उन्होंने अपने भाषा ज्ञान की यथोत्तर वृद्धि का परिचय दिया है, नाटिका में १४ भाषाओं का विद्वान् 'प्रशस्ति रत्नावली' में १६ भाषा का तथा साहित्यदर्पण में १८ भाषाओं का विद्वान् उन्होंने अपने को कहा है।

चन्द्रकलानाटिका—स्वरूप और समीक्षा

'चन्द्रकलानाटिका' की प्रस्तावना में विश्वनाथ ने स्वयं को 'नाट्यवेददीक्षागुरोः' सूत्रधार द्वारा कहलाया है। अर्थात् यह कृति नाट्यशास्त्र के पारंगत आचार्य और कवि की रचना है। जैसा कि विश्वनाथ ने अपनी आत्मप्रशस्ति की है उसके

१. साउथ इण्डियन इन्सक्रिप्सन्स—

भाग ६; संख्या ७२०

अनुरूप^१ इसका निबन्धन भी है। आगे इसकी कसौटी की जाती है।

सर्वप्रथम नाटिका की परिभाषा पर विचार करें—नाटिका में स्त्री पात्रों की अधिकता होती है, चार अंक होते हैं, ललित अभिनय होता है। इनमें नायिका कामोपचार से और प्रसाधन (शृंगार) तथा क्रोध से युक्त होती है। नायक की दूती का समावेश और सारी घटनाएँ नायिका से विशेषतः सम्बद्ध होती हैं (नाट्यशास्त्र)—दशरूपककार धनंजय ने नाटिका का लक्षण इस प्रकार किया है^२—नाटिका में रानी ज्येष्ठ और प्रगल्भ होती है, राजवंशोद्भूता गम्भीर, मानिनी होती है। नायक-नायिका का समागम इसी के आधीन अत्यन्त कठिनता से सम्पन्न होता है। ज्येष्ठा के ही समान नायिका भी राजकुलोत्पन्ना एवं दिव्या मुग्धा और सौन्दर्ययुक्त होती है। नायिका अन्तःपुर में होनेवाले संगीत आदि कार्यक्रमों से सम्बद्ध होकर प्रायः नायक के लिए श्रुत और दृष्ट होती रहती है नायिका के अनुराग में आवद्ध होकर नायक रानी के भय से शंकित मन प्रवृत्त हुआ करता है। स्वयं विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण षष्ठ परिच्छेद में नाटिका की परिभाषा करते हुए लिखा है—

नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात् स्त्रीपात्रा चतुरङ्गिका ।
 प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः ।
 स्यादन्तःपुरसम्बद्धा सङ्गीतव्यापृताऽथवा ।
 नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा ॥

१. निजजनकसमधिगतनिखिलसाहित्यतत्त्वस्य—(प्रस्तावना) चन्द्रकला०
२. देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ।
 गम्भीरा मानिनी कृच्छ्रात्तद्वशान्नेतृसंगमः ॥
 नायिका तादृशी मुग्धा दिव्याऽचातिमनोहरा ।
 अन्तःपुरादि सम्बन्धादासन्ना श्रुतिदर्शनैः ॥
 अनुरागो नवावस्थो नेतुस्तस्यां यथोत्तरम् ।
 नेता तत्र प्रवर्तते देवीत्रासेन शङ्कितः ॥

—दशरूपक

सम्प्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः ।
 देवी पुनर्भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥
 पदे-पदे मानवती तद्वशः सङ्गमो द्वयोः ।
 वृत्तिः स्यात् कैशिकी स्वल्पविमर्षा सन्धयः पुनः ॥—
 (षष्ठ । २८१)

उपरिलिखित परिभाषाओं के अनुसार नाटिका वह कृति है जिसमें नायक धीरललित, नायिका मुग्धा(नवानुरागा) हो, चार अंक हों, स्त्री पात्रों की अधिकता हो। इन स्त्री पात्रों में एक ज्येष्ठा रानी का होना अनिवार्य है। नायिका नृपकुलोत्पन्ना हीनी चाहिए। इसमें नायक महारानी से संतुष्ट रहकर ही नायिका से अनुरागबद्ध होता है और उसी की कृपा पर दोनों का समागम सम्भव है। नाट्यशास्त्र प्रणेता भरत ने इसके अतिरिक्त नाटिका में वृत्त्य-गायन को भी आवश्यक बताया है और राजोचित ढंग का स्वांग भी होना निरूपित किया है। धनञ्जय और विश्वनाथ ने 'कैशिकी वृत्ति' का होना अनिवार्य कहा जबकि आचार्य भरत इस विषय में मौन हैं। और दशरूपककार ने नाटिका को 'शृङ्गाररस प्रधान' बताया है।

'नाट्यवेददीक्षागुरुः' की कृति होने के कारण इसमें नाट्यशास्त्रीय समस्त लक्षणों का समावेश है। क्योंकि साहित्यदर्पण में उदाहरण के लिए इसे विशेष-रूप से रखा गया है। 'नाटिका' में कुल चार अंक हैं। सात स्त्री पात्र एवं अन्य परिचारिकाएँ हैं। नायक, नृप चित्ररथदेव की प्रधान महिषी 'वसन्तलेखा' के ही माध्यम से नायक-नायिका के रागानुरागों को अंकुरित, पुष्पित और अन्त में फलित होने का अवसर मिलता है। नायिका 'चन्द्रकला' नवोढा पाण्ड्यराज की द्वितीया कन्या और वसन्तलेखा की भगिनी है। इसमें विप्रलम्भ शृंगार का सफल संयोजन एवं संगठन हुआ है कैशिकी वृत्ति का सम्यक् निर्वाह किया गया है—नाटिका की पूर्ण परिणति चित्ररथदेव और चन्द्रकला के परिणय में है। (कैशिकी वृत्ति का समग्र क्रिया-कलाप शृंगाररस से युक्त और काम-फल प्राप्ति का आयोजक होना चाहिए)। यह कैशिकी वृत्ति चार प्रकार की होती है—नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट और नर्मगर्भ। विदग्ध क्रीड़ा ही नर्म है

जिसमें प्रिय के आवर्जन का प्रयास किया गया हो। नर्मस्फिञ्ज वह है जहाँ प्रथम समागम में, यद्यपि प्रारम्भिक अवस्था में सुख परन्तु अन्त में भय होता है। नर्मस्फोट वह है, जिसमें भावों के कतिपय अंशों के माध्यम से कुछ रस की सूचना मिले। और जब किसी प्रयोजनवश नायक प्रच्छन्न रूप में प्रवेश करे तो उसे नर्मगर्भ कहते हैं।^१ कौशिकी वृत्ति का प्रयोग शृंगार रस में ही किया जाता है।^२ 'चन्द्रकलानाटिका' शृंगारस प्रधान नाटिका है, इसमें कौशिकी वृत्ति, आवश्यक तथा उपयुक्त है। इसके चारों अङ्गों का नियोजन यथास्थान कथावस्तु के अनुसार यथा साफल्य प्राप्त होता है। वैदर्भी-रीति-विभूषिता, प्रसाद-गुणपूर्णा यह नाटिका नाट्यशास्त्रीय समस्त लक्षणों से युक्त सफल रचना है।

नाटिका का कथानक रसरज वसन्त के सरस वातावरण-चित्रण के साथ प्रारम्भ होता है ऋतुराज-वसन्त एवं रसरज शृंगार का पारस्परिक सम्बन्ध कितना समीचीन है। नाटिका का प्रारम्भ ही इस तथ्य का द्योतक है कि नाटिका शृङ्गाररस की अभिव्यक्ति में सफल है। 'विरचितविरहिकणज्वरं वसन्तसमयम्' कहकर नाट्यकार ने नाटिका के कथानक, विषय, फल आदि का संकेत कर दिया है। और—

अमुच्चन्नपि निजां तां कुन्दलतां सुचिरोपभुक्ताम् ।

चुम्बीत रसालवल्लीम अभिनवमधुगन्धिकां भ्रमरः ॥

कहकर विश्वनाथ ने नाटिका की सारी कथावस्तु को संक्षेप में कह डाला है—राजा चित्ररथदेव कुन्दलता रूपी अपनी महारानी वसन्तलेखा को बिना

१. वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म प्रियोपच्छन्दनात्मकम् ।

नर्मस्फिञ्जः सुखारम्भो भयान्तो नवसङ्गमे ॥

नर्मस्फोटस्तु भावानां सूचितोऽल्परसो लवः ।

छन्ननेतृप्रतीचारो नर्मगर्भोऽर्थहेतवे ॥—दशरूपक

२. शृङ्गारे कौशिकी वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः ।

रसे रौद्रे च वीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥

—दशरूपक

त्यागे ही अभिनव-मधुगन्धिका रसालवल्ली रूपी, नवानुरागा चन्द्रकला के प्रणय-पाश में भ्रमर की भाँति आवद्ध हुए। अर्थात्—

शृङ्गार की विनियोजना का आभास प्रारम्भ में ही पाठक के लिए स्पष्ट हो जाता है। विष्कम्भक योजना द्वारा चन्द्रकला की प्राप्ति की सूचना, आकाश-वाणी का कथन कि उसका पाणिग्रहण करनेवाला राजा स्वयं लक्ष्मी की कृपा का भाजन बनेगा, उससे मंत्री सुबुद्धि ने उसे अन्तःकरण में रख, उस (कन्या) को अन्तःपुर में गोपनीय ढंग से सुरक्षित किया, जिससे राजा के आकर्षण के लिए वह सहज स्थिति प्राप्त कर सके, और उसका अभिलषित पूर्ण हो यह सब सफलतापूर्वक प्रस्तुत कर दिया गया है। नाटिका का कथानक संक्षेप में इस प्रकार है।

प्रथम अङ्क—चन्द्रकला के अनुराग में आवद्ध राजा चिन्तितावस्था में प्रस्तावना के पश्चात् उपस्थित होता है। उसका हृदय सर्वतोभावेन चन्द्रकला में अनुरक्त होने के कारण उस समय सहसा आगत विदूषक का भान न कर सका। परन्तु शीघ्र ही विदूषक अपनी उपस्थिति की सूचना तथा चन्द्रकला के प्रति उसके अनुराग का राजा से कथन कर देता है। अब दोनों—राजा और विदूषक उपवन में टहलते हुए अपनी सखी सुनन्दना के साथ आगत चन्द्रकला को लता-कुञ्ज में छिपकर देखते हैं। जैसे ही चन्द्रकला माधवीलता के पुष्प तोड़ने का उपक्रम करती है, राजा स्वयं को उन पुष्पों को तोड़ने के लिए सादर प्रकट कर देता है। चन्द्रकला शील-लज्जा के कारण वहाँ से जाना चाहती है तब तक विदूषक—‘प्रजा के द्वारा राजा को अर्जित वस्तु का षष्ठांश प्रदान करना धर्म है, अतः चयन किए हुए पुष्पों का षष्ठांश दिये बिना यह तुम्हारा जाना उचित नहीं है,’ कहकर उसे विलम्बित कर देता है। शीघ्रतावश पुनः जाती हुई चन्द्रकला के हाथों से पुष्प गिर पड़ते हैं, राजा उन्हें उठाकर उसके अनुराग-भिज्ञान स्वरूप अपने हृदय से लगाता है। उसी समय महारानी वसन्तलेखा की विश्वसनीया परिचारिका रतिकला के आगमन से चन्द्रकला सुनन्दना के साथ लता कुंज में छिप जाती है। रतिकला राजा को महारानी के आमंत्रण की सूचना देकर चलने का आग्रह करती है। राजा जाना अनिवार्य समझ प्रस्थान करता

हैं, परन्तु रहस्यवाणी द्वारा चन्द्रकला को पुनरागमन के लिए आश्वस्त भी कर जाता है।

द्वितीय अङ्क—राजा, महारानी के साथ उपवन में विचरते हुए भी अपने हृदय को चन्द्रकला से दूर करने में सर्वथा असमर्थ हैं। अचानक एक कोलाहल सुनायी पड़ता है कि भयानक व्याघ्र उपवन में प्रविष्ट हो गया है। राजा तुरन्त महारानी को अन्तःपुर में पारिचारिकाओं सहित जाने का निदेश कर स्वयं उस व्याघ्र का वध करने के लिए सन्नद्ध होकर चलता है। परन्तु शीघ्र व्याघ्र विदूषक के रूप में परिवर्तित हो जाता है। यह रसालक का स्वांग केवल महारानी को हटाने और राजा-चन्द्रकला का समागम कराने के लिए जानबूझ कर किया गया था। वह तुरन्त राजा को चन्द्रकला से मिलने के लिये प्रमदोपवन के एकान्त प्रान्त में ले जाता है। वहाँ अपनी सखी सुनन्दना सहित 'चन्द्रकला पहले से ही उपस्थित थी। सखी उससे राजा के अनुराग को असत्य कहकर उपहास द्वारा उसके विरहताप को उत्तेजित कर रही थी कि राजा प्रकट होकर उसे सान्त्वना देने लगता है। तभी व्याघ्रवध से प्रसन्न महारानी का राजा के पूजनार्थ आगमन जानकर चन्द्रकला भयभीत-सी शीघ्रता में चली जाती है। जाते हुए उसके हाथ से अँगूठी गिर पड़ती है। राजा उस अँगूठी को उठाकर विदूषक को इस विचार से दे देता है कि वह इसे अपने वस्त्र में छिपाये रहे। तब तक महारानी वसन्तलेखा वहीं पहुँच जाती हैं। राजा की अर्चना होती है। विदूषक महारानी से पारितोषिक की याचना करता है। रानी उसे अपना हार दे देती हैं। वह तुरन्त गले में हार और अँगुली में चन्द्रकलावाली अँगूठी पहिनकर 'मैं कितना सुन्दर लग रहा हूँ' कहता है। अँगूठी को महारानी पहिचान लेती हैं और रुष्ट होकर अन्तःपुर में चली जाती हैं। विदूषक राजा से महारानी को प्रसन्न करने का वचन देता हुआ अपनी भूल स्वीकार करता है।

तृतीय अङ्क—विदूषक को जब ज्ञात हुआ कि चन्द्रकला महारानी द्वारा सुनन्दना के घर में छिपा दी गयी है तो वह सुनन्दना ही से गुप्त मंत्रणा करके प्रमदवन के मणिमण्डप में रात्रि के समय राजा का सम्मिलन कराने की योजना बनाता है परन्तु असावधानीवश इस रहस्य का भान वह महारानी को परि-

चारिका माधविका को करा देता है। महारानी को भी इस योजना का ज्ञान हो जाता है। राजा यथानिर्दिष्ट समय रात्रि में चन्द्रकला से मिलने के लिए पहुँचते हैं, वहाँ चन्द्रकला को न देखकर वह कोयल, आम्रवृक्ष, पक्षी मलयपवन आदि से उसका पता पूछते हुए प्रलाप करने लगता है। तब तक रसालक (विदूषक) इन्हें मणिमण्डप में उपस्थित चन्द्रकला की सूचना देता है। महाराज पहुँचकर चन्द्रकला से मिलते हैं। परन्तु उनका अनुसरण करती महारानी वहाँ पहुँच जाती हैं। उसे राजा का इस प्रकार चन्द्रकला के साथ प्रणयालाप सह्य न था। वह चन्द्रकला को वन्दी बनाकर रखने और सुनन्दना के साथ विदूषक को बाँधकर ले चलने का आदेश करती है। उसके आज्ञा अनुसार दोनों कार्य सम्पन्न होते हैं। राजा इस घटना से बहुत क्षुब्ध होता है। किन्तु विवश था, वह एकाकी महल की ओर प्रस्थान करता है।

चतुर्थ अङ्क—चन्द्रकला के वन्दी बनाये जाने के कारण राजा विरह-संतप्त रहने लगा। कुछ समय व्यतीत होने के पश्चात् अचानक महारानी के पितृग्रह पाण्ड्य राज्य से दो वन्दीगण सन्देश लेकर उपस्थित होते हैं। चिरकाल के पश्चात् पितृदेश और क्रुटुम्ब का समाचार सुनने के हर्ष में रानी ने तुरन्त विदूषक को मुक्त कराया और उसके एवं राजा के साथ मणिमन्दिर में वन्दीगणों से मिलने की योजना बनायी। विदूषक द्वारा यह समाचार जानकर राजा तुरन्त वहाँ उपस्थित होता है। वन्दीगणों ने समाचार दिया कि किस प्रकार पाण्ड्येश्वर की छोटी पुत्री विहार करने के लिए निकली थी, रास्ता भूल जाने के कारण एकाकिनी वह शबरराज द्वारा शुभ लक्षणों से युक्त जान, विन्ध्यवासिनी-मन्दिर में बलिदान-हेतु वन्दी बना ली गई। चतुर्दशी की रात्रि में जब वह बलि के लिए यथा-स्थान उपस्थित की गई तो दर्शनार्थी आगत किसी विक्रमाभरण नामक सेनापति के एक सैनिक द्वारा देखी गयी। उस सैनिक ने उस कन्या को शबरराज से मुक्त किया और उसे युद्ध में मार डाला। फिर लाकर उस कन्या को उसने अपने सेनापति विक्रमाभरण को सौंप दिया। सेनापति ने समस्त वृत्तान्त कहकर कन्या को मंत्री सुबुद्धि के संरक्षण में दे दिया था। अतः वह अब आपके ही यहाँ है। हमारे महाराज ने उसे महाराज चित्ररथदेव को ही शुभ लक्षण वाली होने

के कारण प्रदान करने का पूर्व से ही निश्चय किया था। अतः अब आप महारानी की सहमति से उसके साथ पाणिग्रहण कर लें।

समाचार को सुनकर, तुरन्त मंत्री सुबद्धि को बुलाया जाता है। वह समस्त वृत्तान्त बतलाता है। वह दिव्यवाणी की चर्चा कर अपनी सम्बन्धिनी के रूप में अन्तःपुर में संरक्षित कराने का अपना प्रयोजन भी बतला देता है। उसके पश्चात् चन्द्रकला उपस्थित की जाती है। पाण्ड्य देश से आये दोनों बन्दी अपने महाराज की उस द्वितीया कन्या को देखते ही पहचान लेते हैं। महारानी वसन्तलेखा को अब अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप होता है। अस्तु प्रायश्चित्त-सा करती हुई वह स्वयं राजा के साथ उसका पाणिग्रहण सम्पन्न कराती हैं। पाणिग्रहण के पश्चात् ही वहाँ महालक्ष्मी प्रकट होकर अभीष्ट वरदान देती हैं और अपने दर्शन से सभी को कृतार्थ करती हैं। भरतवाक्य के साथ नाटिका समाप्त होती है।

पात्र

राजा चित्ररथदेव—नाटिका के धीरललित नायक हैं। 'साहित्यदर्पण' और 'दशरूपक' में निरूपित उन सभी गुणों का समावेश 'चित्ररथदेव' में है जो नाटिका के नायक के लिए आवश्यक वर्णित किये गये हैं। वे प्रशस्त कुलोद्भूत हैं, शत्रुवर्ग को पराजित कर, निश्चिन्त, ससुख राज्य करते हैं, चोल, कोशल वंग, हावंग, कोच काञ्ची, मत्स्य, म्लेच्छ, लाट, कर्णाट आदि के नरेश अपने शौर्य एवं प्रताप का उसके महाप्रताप में विलयन कर चुके थे। राज्य की आध्वोर सीमा पर उसका धवलयश प्रहरी बना रहता, कहीं, किसी भी प्रकार का शत्रु द्रोह आदि का भय न था। 'समस्त शत्रुओं का विनाश करके, सर्वत्र राज्यशासन संचालनार्थ निपुण मंत्रिगणों की नियुक्ति कर देने के कारण, आनन्द विहार—कौतुक आदि ही जिसकी जीवनचर्या हो, ऐसे आपके लिए राज्य-शासन की

१. प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः ॥

—सा० द०/परि ६—२८१

निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः ॥

—दशरूपक/प्रकाश ३

रञ्चमात्र चिन्ता नहीं हो सकती' -प्रथमाङ्क (विदूषक) । सम्पूर्ण नाटिका में एक भी स्थल ऐसा नहीं है जहाँ यह आभास मिले कि राजा राज्य में शासन, शान्ति आदि को सुदृढ़ एवं स्थापित करने की चर्चा करता हो, वह अपने सुहृद् रसालक (विदूषक) के साथ सर्वदा आनन्दोल्लास, हास, परिहास एवं लास में मग्न रहता है ।

वह धीर, गम्भीर, कलासक्त मृदु स्वभाव का पुरुष है । संगीत, कला, काव्य नाटक का प्रेमी होने के कारण राजा ऐसे समस्त कलाकारों को उचित आदर और सम्मान देता, उनकी कलाकृतियों को समाहृत कर उसके प्रसार तथा विकास में योगदान देता था । उसके मंत्री सुबुद्धि का कथन—देवों से अभिनन्दित इन्द्र के समान विद्वानों से प्रशंसित तथा अभिनन्दित, चन्द्र के समान समग्र कलाओं के आस्पद, सूर्य के समान अन्यो के प्रताप को निस्तेज करनेवाले, शिव-सी विभूति से अलंकृत महाराज विराजमान हैं । (अङ्क ४/६) उसकी कला-प्रियता और विलक्षणता तथा परख के भावाभिव्यंजना के वे स्थल, जहाँ वह अपनी प्रिया चन्द्रकला के सौन्दर्य अथवा स्वभाव का कथन करता है निस्सन्देह एक कवि-हृदय का साक्ष्य देते हैं, ' इसके दोनों चरण अर्हनिश विकसित कमल के समान, ऊरु कदली-स्तम्भ-सदृश, कटि भाग जैसे लावण्य के समुद्र में निमग्न द्वीप हो, दोनों उरोज उन्नत गज के जैसे कुम्भ हों और रत्न-सा ऊपर की ओर उठाये हों एवं मुख चन्द्रविम्ब की भाँति शोभित हो रहा है ।' (अङ्क १/१३) इस लावण्य राशि में निमग्न राजा के मनोगत भाव देखिए—

दरप्रकाशे कुचकुम्भमूले द्रुतं निपत्य द्रुतकर्दुराभे ।

लावण्यपूरे विनिमग्नमुच्चैर्न मे कदाचित् बहिरेति चेतः ॥

—(प्रथमाङ्क/१५)

'मेरा हृदय उसके स्तोकोन्नत, तप्त स्वर्ण-सदृश आभासित उरोज—कुम्भों के मूल प्रान्त के सुन्दर लावण्यपूर में इस प्रकार निमग्न हो गया है कि उससे निकलना मेरे लिए दुष्कर हो रहा है ।' कितना रसिक भाव है ।

उसकी धीरता, गम्भीरता एवं कुलीनता का उत्कृष्ट परिचय तो यही है कि नवानुरागा चन्द्रकला में अनुरक्त मन भी वह अपनी महारानी वसन्तलेखा के प्रति

अपने सम्मान, विनम्रता; सहनशीलता स्नेह आदि के भावों में किसी भी अंश में न्यूनता नहीं आने देता। यद्यपि वह चन्द्रकलाकी प्राप्ति में व्यवधान ही बनती रही तथापि वह उसकी आकांक्षाओं पर कभी आघात नहीं होने देता, क्रोध से भरी महारानी को प्रसन्न करने के भी सारे प्रयास वह करता है। रसालक द्वारा मणिमन्दिर में पहुँचने का रानी द्वारा आमंत्रण वह तुरन्त स्वीकार कर वहाँ उपस्थित हो जाने के लिए उसके साथ प्रस्थान करता है। दूसरे अंक में वह वसन्त-लेखा के साथ रात्रि में स्वच्छ ज्योत्स्ना-स्नात सरोवर-कमल का सौन्दर्य देखता है, उसके कमल-मुख की प्रशंसा करता है। यह सब उसके मृदु-स्वभाव का ही परिणाम था।

राजा चित्ररथदेव नाटिका के लिए सर्वथा उपयुक्त नायक हैं। यही कारण है कि नाटिका के अन्त में लक्ष्मी ने उसके दो अभीष्टों के पूरा होने की अपनी स्वीकृति दी है—

आचन्द्रतारकं मातर्मा विमुञ्च कुलं मम ।

भूयादविरतं भक्तिस्त्वयि मेऽव्यभिचारिणी ॥

चतुर्थाङ्कः/१४

जननि ! जब तक आकाश में चन्द्र और तारिकाओं का अस्तित्व रहे, तुम मेरे कुल का त्याग मत करो और मुझे सदा अपना सेवक, दास स्वीकार करो।

चन्द्रकला—‘नवानुरागा कन्यात्रनायिका नृपवंशजा, [सा० द० । प० ६] के अनुसार चन्द्रकला, नाटिका की सर्वगुण—सम्पन्न नायिका है। यह पाण्ड्येश्वर की द्वितीया कन्या और महारानी वसन्तलेखा की कनिष्ठा भगिनी हैं (यत् किल वनविहारावसरे देव्याः समानोदराप्रभा काचित् कुमारिका केतचिदपहृत्य नीता/अंक ४) पाण्ड्येश्वर के यहाँ से आए वन्दिगणों के यह कहने पर महारानी ने आँखों में आँसू भरकर कहा—वह्निणी ! कुदो उण वट्ठेदि (भगिनी ! तुम अब कहाँ हो ?) इससे पूर्व प्रथम अंक प्रस्तावना में मंत्री सुबुद्धि का कथन—राजवंशजेयमिति कथयित्वा मत्परितोषकाक्षिणा मदन्तिकं प्रहिता भी उसके नृपकुलोत्पन्न होने की पुष्टि करता है।

‘नायिका तादृशी मुग्धा विव्याचात्मनोहरा’ नाटिका की नायिका को

मुग्धा, दिव्य और सौन्दर्यवती होना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्तःपुर से सम्बद्ध होने के कारण नायक के लिए श्रुत तथा दृष्ट होनी चाहिए, साथ ही नायक के प्रति इसका अनुराग प्रारम्भ होकर उत्तरोत्तर बढ़ते रहना चाहिए। (दशरूपक प्रकाश-३) इस निरूपण के अनुसार 'चन्द्रकला' सर्वथा शास्त्रीय-लक्षण से युक्त नायिका हैं। वह सुन्दर है, लज्जावती, मृदुस्वभावा, यौवनमद-विकारपूर्ण, मुग्धा है। अन्तःपुर से सम्बन्ध है—सुबुद्धिः—'मम वंशजेयं सखीपदे स्थापयित्वा परिपालिनीयेति सादरं समर्पिता देव्याः' (महारानी के ही अन्तःपुर में अपनी सम्बन्धिनी कहकर रखवा दिया है।) मंत्री सुबुद्धि ने रानी के सान्निध्य में सप्रयोजन रखवाया, जिससे राजा की दृष्टि उस पर पड़े दोनों का अनुराग हो, फिर अन्त में परिणय सम्भव हो सकेगा। क्योंकि—

यस्तु भूमिपतिर्भूमौ पाणिमस्या ग्रहीष्यति ।

लक्ष्मीः स्वयमुपागत्य वरमस्मै प्रदास्यति ॥

—प्रथमाङ्क/६

उसके रूप लावण्य के सम्बन्ध में भी स्वयं मंत्री ने निरुपम सौन्दर्यलक्ष्मी रिच, कहकर अनिन्द्य सुन्दरी के रूप में स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त उसकी सुन्दरता का वर्णन राजा चिद्वरथदेव ने, और पाण्ड्येश्वर के यहाँ से आगत बन्दिगणों ने भी स्पष्टतया किया है—'भुवनों का अलंकार, विधाता के निर्माण-कौशल का विलास, युवकों के नेत्रों की मादकस्थली एवं समस्त सुन्दर-लक्षणों की भूमि थी (अंक ४।७) राजा ने उसके अनुपम सौन्दर्य का कथन इन शब्दों में किया है—

सा दृष्टिर्नवनिलनीरजमयी वृष्टिस्तदप्याननं

हेलामोहनमंत्रयंत्रजनिताकृष्टिर्जगच्चेतसः ।

सा भ्रूवल्लिरनङ्गशाङ्गधनुषो यष्टितथास्यास्तनु—

लविण्याभूतपूरपूरणमयी सृष्टिः परा वेधसः ॥

—प्रथमाङ्क/७

अन्तःपुर में रहने के कारण चन्द्रकला से राजा को राजा से चन्द्रकला को

सहज अनुराग होता है। और वह अनुराग शनैः शनैः वर्द्धित होकर अन्त में दोनों के परिणय-सूत्र बन्धन के रूप में प्रकट हुआ। नायिका चन्द्रकला नाट्य-शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार 'मुग्धा' श्रेणी की है। 'नववया', नव-कामनावती, रतिप्रतिकूला और क्रोध में कोमल (मुग्धा नववयः कामा रती वामा मृदुःक्रुधि)—दशरूपक प्रकाश ३। अर्थात् जिसकी यौवनावस्था का प्रथम चरण हो, काम-भावों का प्रथम प्रवेश हो रहा हो, रति में अरुचि सी रखती हो एवं क्रुद्ध होने पर सहज में ही प्रसन्न होजाय उसे मुग्धा कहते हैं। चन्द्रकला, महान-रानी वसन्तलेखा की कनिष्ठा भगिनी होने के कारण नववयस्का तो है ही। प्रथमाङ्क के 'अब्जद्वन्द्वमहनिशं—शीतद्युतेर्मण्डलः' से उसके नवयौवना होने के पूर्ण लक्षण स्पष्ट हैं। और राजा के, निश्चित ही इसके भी अन्तःकरण में काम भावों का विकार अंकुरित हो रहा है' (नूनमियमन्तनिहितमदनविकारा वर्तते—अङ्क १) कथन से वह नवकामवती है। राजा के प्रथम दर्शन के पश्चात् ही अनुराग भाव जो उत्पन्न हुआ वह इतना प्रगाढ़ हो गया कि उसे राजा का वियोग असह्य होने लगता है। अननुभूत वियोग-ताप-दुःख से वह अत्यन्त ही व्याकुला हो उठती है—'वियोगावस्था का यह प्रभाव, मुगनयनी चन्द्रकला परिपक्व लवली फल के सदृश पीतवर्ण क्षीण हो रही है, केशराशि उरझ गयी हैं (क्योंकि प्रसाधन करने का अवसर ही नहीं है) अपने शरीर को कोमल नलिनीपत्र-शय्या पर रखे हुए है—(अङ्क २।११)।

वह शीलस्वभावा अत्यन्त लज्जावती भी है अपनी सखी सुनन्दना के साथ विचरती हुई जब भी राजा को वह देखती है, उसका मुख नम्र हो जाता है। स्वयं उधर देखना नहीं चाहती और सखी के वार्तालाप में भीकोई विशेष रुचि नहीं दिखाती वह असंगत सा उत्तर देती है—

१. प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रती वामा ।

कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा ॥

—सा० द० । परि० ५

हसति परितोषरहितं निरीक्ष्यमाणापि नेक्षते ।
सख्यामुदाहरन्त्यामसमञ्जसमवोत्तरं दत्ते ॥

प्रथमाङ्क/१४

विदूषक रसालक द्वारा चयन किये गये पुष्पों का षष्ठांश राजा की सम्पत्ति होने के कारण प्रदान करने की बात कही जाने पर वह वहाँ से तुरन्त हट जाना चाहती है। राजा के सामने वह रुकने में असमर्थ थी परन्तु अनुराग-भावाधिक्य बलात् उसके हाथ के पुष्प गिर पड़ते हैं। ये सारे क्रिया-कलाप क्या उसके अनु-रागवती, लज्जाशीला होने की पुष्टि नहीं करते। अस्तु, यह मृदुल भावा, कोमल स्वभाव होते हुए भी संगीत एवं चित्रकर्म आदि में निपुण नहीं है परन्तु रूप लावण्य की भूमि होने के कारण वह अपने पाणिग्रहण से सनाथ राजा चित्ररथदेव को महालक्ष्मी का कृपापात्र बना देती है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि नाटिका की नायिका चन्द्रकला नाट्य-शास्त्रीय लक्षणों से युक्त सर्वगुण सम्पन्न है।

वसन्तलेखा—वह पाण्ड्यनरेश की ज्येष्ठा कन्या, महाराज चित्ररथदेव की प्रधान महिषी है। उसी के अधीन नायक-नायिका (राजा और चन्द्रकला) का पूर्णतया सम्मिलन हुआ। तदिदं द्विजनिवेदितं यदा च वसन्तलेखा अनुजानाति तदा तथा मदनमुत एव गृह्णातु पाणिमस्या देवः' इति। (पाण्ड्याधिपति के वन्दिगणों ने कहा—जिसका समाचार ब्राह्मणों ने भेजा था, उस कन्या के साथ आप, यदि वसन्तलेखा अनुमति दें तो पाणिग्रहण कर लेने की मेरी स्वीकृति है।—अङ्क ४) वस्तुतः समस्त कथानक देवी वसन्तलेखा में ही केन्द्रित है, वही नायक-नायिका के पारस्परिक अनुराग के अंकुरण, पल्लवन, एवं अन्त में फलित करने का श्रेय धारण करती है।^१ नायक एवं नायिका दोनों ही इसमें भयभीत,

१. सम्प्रवर्त्तत नैतस्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः ।



पदे-पदे मानवती तद्बुधशः संगमोद्वयोः ॥

सा० दर्पण । परि० ६

सशंक रहते हैं। जैसा कि नाट्यशास्त्रीय देवी को होना चाहिए, सभी गुणों से यह सम्पन्न है। वह प्रगल्भ, मानवती, नृपवंशजा है। वह प्रौढ़ युवती है, रागानुराग के भावानुभावों के प्रकट गोपन आदि क्रिया-कलाप में सर्वथा निपुण है। रात्रि की चन्द्रज्योत्स्ना में राजा के साथ प्रमदोपवन में विचरती हुई उसका कथन देखिए—‘एतेन किल अमृतमयूखेन दीर्घिकाकुमुदिन्याः किसलयकरे स्वयमेव करोऽपितो वर्तते। तद्विदानीं एतयोः परिणयार्थं तव सन्निधानमात्रं मया काङ्क्ष्यते — अङ्क २) (दीर्घिका में स्थित कुमुदिनी का कर स्वयं ही सुधारश्मियों से आलिंगित हो रहा है। अतः यहाँ तो इनके विवाह के लिए मात्र आपकी उपस्थिति की मुझे आवश्यकता है)। राजा एक बार उसके मुख-कमल की प्रशंसा करके छलने का प्रयास करता है परन्तु उसके उलाहना देने पर कि जानामि यथा किल ते असत्य एव सकलोऽपि अस्मास्वनुरागबन्धः—वह इसकी इच्छा की पूर्ति विवश हो करता ही है।

व्याघ्र-जनित कोलाहल से भयभीत होकर आश्चर्य ! कथं व्याघ्रः। राजा का अलिंगन कर उठती है राजा ‘प्रिये ! न भेतव्यम् न भेतव्यम्’ कहकर उसको अन्तःपुर में जाने का आदेश देता है और स्वयं उसका (व्याघ्र) वध करने के लिए प्रस्थान करता है। व्याघ्र का स्वांग रसालक की योजना थी। इस योजना का भेदकिसी को मालूम न था। अन्त में कृत्रिम व्याघ्र वध किया हुआ बताया गया व्याघ्र वध से हर्षित महारानी आकर राजा की अर्चना करती हैं। वही महारानी जब माधविका द्वारा यह जान लेती है कि रसालक, राजा का चन्द्रकला से मणिमण्डप में मिलन करायेगा, वह स्वयं भी वहाँ पहुँच जाती है। चन्द्रकला सुनन्दना, रसालक तीनों को वह वन्दी बनवाकर कारावास का दण्ड देती है (अङ्क ३) उसे अपने प्रिय का अन्य रमणी के साथ प्रणय-निबन्धन स्वीकार नहीं हैं।

अन्त में इस महारानी वसन्तलेखा का चरित्र कितना उज्ज्वल होकर प्रकट होता है कि वह स्वयं चन्द्रकला का राजा के साथ परिणय कराकर परमानन्द और सन्तोष का अनुभव करती है—महाराज मेरे माता-पिता की और मेरी अनुमति से आप इसका पाणिग्रहण करें। (आर्यपुत्र ! माता पित्रोर्मममाप्यनु-

मत्या करे इदानीं गृहाणेनाम्'—अङ्क ४) । इस प्रकार हम देखते हैं कि वसन्त लेखा नाटिका की सर्वगुणोपेता ज्येष्ठा नायिका है । नायक एवं नायिका के पश्चात् वस्तुतः इसी का नाटिका में महत्त्व है ।

रसालक—रसालक राजा चित्ररथ देव का सुहृद्-विदूषक है । यह राजा के प्रत्येक कार्य में (चाहे वह प्रणय-व्यापार हो अथवा मनोरजन) सहायक के रूप में नाटिका के प्रारम्भ से अन्त तक उपस्थित है । प्रकृत्या यह वाचाल, परिहासप्रिय, वाक्पटु एवं स्वाभिमाती मूर्ख है । समयानुसार यथोचित वेशधारण, शरीर प्रदर्शन आदि क्रिया सम्पादन में दक्ष, कलह-रति दोनों में रुचि रखनेवाला यथावसर पठिता वाणी-कुशल है । शास्त्रीय-लक्षणों एवं आचार्यों के निर्देशानुसार ही इसका नाम रसालक है । वह ब्राह्मण के सभी गुण भोजन, पारितोषिक आदि ग्रहण करने में सदा उत्सुक रहनेवाला, सुस्वादु, मिष्ठान्न का अत्यधिक प्रेमी है—उसे आम्रप्रसून श्रीखण्ड की भाँति और अशोक के गुच्छे मोदक सदृश प्रतीत होते हैं । (अङ्क १।१२) । राजा के साथ विचरते हुए वह प्रकाशित चन्द्रमा के मण्डल और बिखरती किरणों की उपमा किस प्रकार नवनीत पिण्ड और दुग्धधारा से दे रहा है ।^२

विदूषक राजा का सर्वत्र सहायक है । जब उसने चन्द्रकला से राजा के सम्मिलन का अवसर सहज में प्राप्त होना असम्भव देखा तो सपरिवार महारानी को हटाने का तुरन्त उपाय ढूँढ़ निकाला, उसने तुरन्त व्याघ्र का स्वांग निर्मित किया और सफलता भी मिली । वह एक व्युत्पन्नमति भी है । किसी बात का अकाट्य उत्तर देने में वह कभी नहीं चूकता । उसके प्रत्येक कथन में परिहास का सम्मिश्रण अवश्य रहता है । 'तदिदानीमेतस्य प्रियं निवेद्य सकलानामपि मंत्रि-वराणां शिरसि चरणं दास्यामि ।' (अंक ३) कितना व्यंजनापूर्ण वाक्य है, इसमें

१. कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेशभाषाद्यैः ।

हास्यकरः कलहरतिः विदूषकः स्यात् सर्वकर्मज्ञः ॥ सा० द० । परि० ३

२. एष शशधरबिम्बो दृश्यते हैयङ्गवीनपिण्ड इव ।

एते अस्त्र मयूखा पतन्ति आशासु दुग्धधारा इव ॥ द्वितीयाङ्क/८

उसकी दक्षता का पूर्ण परिचय मिलता है। 'गर्भदास्याः मुनन्दनायाः कठोर-
स्तनभरेणापीडनं गुरुकं मेऽङ्गं वाघते (अङ्क ३) महारानी की परिचारिकाओं
को वह 'गर्भदास्या दुहितरः दास्या दुहितरः' कहने का अभ्यस्त था। एक
कथनोपकथन देखिए—

राजा—सखे किमन्यत् । अनया खलु बध्वा निजगुणसंघंभृशं समाकृष्ट-
चेतसः प्रसभं हृदये दिवानिशं मे भवति मदनानलो ज्वालितः ।

विद्वेषकः—आश्चर्यम् । तदविलम्बितं परिसृत्य दीधिकोद्भृतसलिलकुम्भेन
निर्वाप्यतामेष वह्निः ।

रसालक वस्त्र और आभूषणों का भी परम प्रेमी है। जब राजा ने चन्द्र-
कला की अँगूठी उसे वस्त्रों में छिपाने के लिए दी तो उसने रख लिया। फिर
जब महारानी उसके 'किमिति न बदाति में पारितोषिकं देवी' कहने पर हार
निकालकर देती है तो वह तुरन्त उसे गले में एवं चन्द्रकला की अँगूठी अँगुली में
पहनकर कहता है—'दास्याः दुहितरः प्रेक्षध्वं मे सौन्दर्यम्' ।

इसके अतिरिक्त नाटिका में अमात्य सुबुद्धि, सुनन्दना, रतिकला, माधविका
एवं पाण्ड्यदेशागत वन्दियों का नाम उल्लेखनीय है।

सुबुद्धि—यह महाराज चित्ररथ देव का मन्त्री, राज्य शासनका संचालक है।
नाट्यशास्त्राचार्य के अनुसार, धीरललित नायक की सिद्धि का श्रेय उसके मंत्री
पर निर्भर करता है।^१ नाटिका का नायक चित्ररथदेव धीरललित नायक है।
उसकी सफलता वस्तुतः मंत्री सुबुद्धि की कार्य कुशलता से ही है। वह नीति
पटुता के साथ शासन का संचालन करनेवाला है। राज्यपालननियुक्तभी सचिवः
(प्रथमाङ्क)। यही नहीं वह सदा राजा के हितों के चिन्तन एवं साधन में रत
दिखाई पड़ता है। यद्यपि उसकी उपस्थिति नाटिका के प्रथम और चतुर्थ अङ्क
के अतिरिक्त कदापि नहीं हुई है। तथापि उसका महत्त्व नाटिका के समस्त कार्य
व्यापार सम्पादन में न्यून नहीं कहा जा सकता। विक्रमाभरण द्वारा प्राप्त कन्या

१. मंत्रिण, ललितः शेषा मंत्रिस्वायत्तसिद्धयः ।

—दशरूपक । द्वितीयप्रकाश

को देख और दिव्यवाणी, यस्तु भूमि...प्रदास्यति का श्रवण कर उसने तुरन्त चित्ररथदेव की हित-कामना से कि वह उसकी पाणिग्रहीता बन सके 'मम वंशजेयं सखीपदे—समर्पिता देव्याः' रानी के अन्तःपुर में गोपनीय रीति से संरक्षित कर दिया। पाण्ड्येश्वर के बन्दिगणों के आगमन पर जब उससे पूछा गया तभी उसने इस रहस्य का उद्घाटन किया।

सुनन्दना—महामात्य सुबुद्धि की विश्वसनीया दासी है।

रतिकला—महारानी वसन्तलेखा की एकमात्र विश्वस्ता दासी है। उसकी सारी आस्था रानी में ही है।

माधविका—अन्तःपुर की एक परिचारिका है।

बन्दीगण—पाण्ड्येश्वर के वहाँ से आगत बन्दिगणों का कार्य उनके अनुरूप श्लाघ्य हैं।

साहित्यिक सौष्ठव

'चन्द्रकला' की नाटकीय-समीक्षा और नाट्य वैशिष्ट्य हम लिल चुके हैं। नाट्य-वैशिष्ट्य के ही साथ इस कृति में काव्य-सौष्ठव को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। विश्वनाथ जी ने दो काव्यों की भी रचना की थी, इससे उनकी काव्य-प्रतिभा, सहज ही सिद्ध है। इसके अतिरिक्त साहित्य-दर्पण के तृतीय, षष्ठ, सप्तम अष्टम और दशम परिच्छेदों में इसके कुल तेरह छन्द रस, ध्वनि, गुण अंलकार आदि के विवेचन-प्रसङ्ग में उद्धृत किये गए हैं। अतः हम कह सकते हैं कि यह नाट्यकृति साहित्यिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है प्राञ्जल भाषा, वैदर्भीरीति और कौशिकी वृत्तिसनाथ इस नाटिका में, प्राकृतिक उपादानों, नायक-नायिका के मनोगत भावों के चित्रण सहज ही हमें एक रस-भाव-सिद्ध कवि का स्मरण कराते हैं। गद्य और पद्य दोनों में विश्वनाथ जी सफल हैं।

प्राकृतिक चित्रण पढ़ते समय हृदय प्रकृति के साथ तादात्म्य-सा स्थापित करने के लिए विवश हो उठता है। प्रथम अङ्क का 'लता कुञ्जं गुंजन्—दिशि-दिशि' छन्द पढ़ते समय वसन्तकालीन मलयानिल की मन्द-नाति का आभास और उससे जनित उन्माद-लास सा प्रकट होने लगता है, प्रतीत होता है कि मलय-मास

एक रस-रसिक की भांति जन-मानस को मधु-मदिर भावों से उन्मत्त कर रहा है। उदीयमान चन्द्रमा, उसकी ज्योत्स्ना एवं रात्रि के अन्धकार का भी वर्णन नितान्त मनोरम है। द्वितीय अङ्क में उदय होते हुए चन्द्रमा को देखकर राजा अपनी महारानी वसन्तलेखा से उसका वर्णन करते हुए उसे कर्पूर-चूर्ण के सदृश शुभ्र, आकाश-सागर का राजहंस आदि संज्ञाओं से अभिहित करता है— 'विरहिजनों के लिए कृतान्त के समान, कर्पूरचूर्णसदृश श्वेत, युवकों को अधीर करनेवाला कामोन्मादक, कुमुदकुल को जाग्रत करनेवाला, आकाश-सागर में राजहंस के समान चन्द्रमा उदय हो रहा है।' (२।१) ऐसे चन्द्रमा की किरणों का प्रसार जब होने लगा तो कुमुददल रूपी हृदय खिलने और घनतिमिर रूपी धैर्य विचलित होने लगा—

सह कुसुमकदम्बैः काममुल्लासयन्तः,
 सह घनतिमिरीर्षैः धैर्यमुत्सादयन्तः ।
 सह सरसिजषण्डैः स्वान्तमामीलयन्तः,
 प्रतिविशममृतांशोरंशवः संचरन्ति ॥

—द्वितीयाङ्क।७

चन्द्रमा उदय हो रहा है—उसके प्रभाव से काम भावनाएँ उसी प्रकार विकसित, उल्लसित, हो रही हैं जैसे पुष्पों में विकास, उसकी किरणों के प्रसार से जैसे तिमिर का नाश हो रहा है, उसी प्रकार रसिक-मानस से धैर्य किनारा छोड़ने लगा है, कमलदलों की भांति हृदय विकचने लगे हैं। रात्रि की युवास्था में घनान्धकार इस प्रकार व्याप्त हो जाता है कि समस्त जगती की वस्तुएँ उसके श्यामवर्ण में रंगी-सी अपने पृथक् अस्तित्व को भी उसमें धिलीन कर देती हैं। इसका कथन कवि विश्वनाथ निम्न शब्दों में कर रहे हैं—

आस्तीर्णा इव नीलचेलनिचयैः पूर्णा इवेन्द्रीवरै—
 राकीर्णा इव चूर्णितैर्मृगमदैः पूर्णा इवाभ्रनन्दैः ।
 रुद्धवानेन विगृह्य लोचनपथं भेद्येन सूचीमुखं—
 राच्छमसा तमालमलिनच्छायेन सर्वा दिशः ॥

—तृतीयाङ्क।३

नायिका के सौन्दर्य-कथन एवं उसके विरहावस्था—काल में उसके हृदयगत-

भावों को परखने और उनका अंकन करने में भी विश्वनाथ जी की काव्य-प्रतिभा अत्यन्त ही पर्यवेक्षणी होकर प्रकट हुई है। और नायक चित्ररथदेव के प्रेमाभिभूत-मानस की गति को भी उन्होंने वड़ी ही सावधानी से पहिचाना है—

वरप्रकाशे कुचकुम्भमूले द्रुतं निपत्य द्रुतकर्चुराभे ।
लावण्यपूरे विनिमग्नमुच्चैनं मे कदाचित् बहिरेति चेतः ॥

—प्रथमाङ्क। १५

राजा चन्द्रकला की लावण्य-सम्पदा पर इस प्रकार मुग्ध हो गया है कि अपने हृदय को उससे विरत करना उसके लिए नितान्त दूभर हो गया। यही कारण है कि चन्द्रमा की किरणों उसके लिए अग्नि-स्फुर्लिंग-सा बरसा रही हैं— 'उस मृगनयनी से वियुक्त होने के कारण मेरा हृदय अत्यन्त ही संतप्त हो उठा है और यह चन्द्रमा अपनी किरणों के व्याज से मेरे ऊपर अग्नि के कणों की बरसा करने लगा है' (अङ्क २।२)। इसके अतिरिक्त तृतीय अङ्क का छन्द १८ और चतुर्थाङ्क का प्रथम छन्द भी (इस विषय का) काव्य-सौष्टव की दृष्टि से उल्लेखनीय है।

चन्द्रकला के सौन्दर्य का जो कथन राजा के द्वारा कवि ने किया है, वह वस्तुतः साहित्यक-पाठक के लिए हृदयावर्जक है—

असावन्तश्चञ्चद्विकचनवनीलाब्जयुगल-

स्तलस्फूर्जत्कम्बुविलसदलिसंघात उपरि ।

बिना दोषासङ्गं सततपरिपूर्णाखिलकलः,

कुतः प्राप्तश्चन्द्रो विगलितकलङ्कः सुमुखि ! ते ॥

—प्रथमाङ्क। १७

नायिका के मुख-सौन्दर्य का वर्णन कवि कितनी तन्मयता के साथ अपनी सूक्ष्म-अन्वेषणी दृष्टि से निरखकर कर रहा है—हे सुमुखि ! यह लोकोत्तर चन्द्रमा तुम्हें कहाँ से प्राप्त हो गया ? इस के मध्य में दो नील कमल (दो नेत्र) शोभा पा रहे हैं उसके नीचे शंख और उससे ऊपर भौरों का दल मंडरा रहा है (श्याम वर्णं केशराशि)। और यह चन्द्रमा रात्रि के बिना ही समस्त कलाओं से पूर्ण, ज्योतिमान है। इससे भी मनोहारी वर्णन देखिए—

विम्बस्यासुकृतेन दन्तवसनं मत्ते भकुम्भद्वय-
स्यापुण्येन पयोधरो कुवयलस्याकर्मणा चक्षुषी ।
इन्दोर्भाग्यविपर्ययेण वदनं कुन्दाबलेरेनसा,
दन्ताली कदलीतरोश्च दुरितेनोद्धयं निमित्तम् ॥

—तृतीयाङ्क । १६

और किस प्रकार सिंह अपनी क्षीण-कटि को पराजित समझकर क्रोधाभिभूत हो युवती कुच-कलशों के सदृश गजराज के गण्डस्थलों को विदीर्ण करता रहता है—

मध्येन मध्यं तनुमध्यमा मे पराजयं नीतवतीति रोषात् ।
कण्ठीरवोऽस्याः कुचफुम्भतुल्यं मत्ते भकुम्भद्वितयं भिनत्ति ॥

—तृतीयाङ्क । १७

नाटिका नाट्यशास्त्रीय लक्षणों के अनुसार शृंगाररस प्रधान है। इसमें विश्वनाथ जी शृंगाररस की निष्पत्ति कराने एवं उसके संयोग-वियोग दोनों पक्षों का सफल चित्रण करने में सिद्ध प्रतीत होते हैं। नायक-नायिका के हृदय में पारस्परिक अनुराग भावों का अंकुरण, प्रस्फुटन पल्लवन उचित रीति और अप्रत्याशित गति में होता है। दोनों ही आतुर होकर निज स्थिति को विस्मृत करने लगते हैं। सुधा-शीतल चन्द्र की रश्मियाँ दोनों के लिए अग्नि-कण की बरसा करती प्रतीत होती हैं। राजा अशोक से निवेदन कर रहा है कि मेरे परिताप को शान्त करके अपने नाम को सार्थक करो—

त्वमशोक ! शोकमपहृत्य मामकं,
कुरु तावदाशु निजनाम सार्थकम् ।
अवलोकितान्न भवता यदि सा,
वव नु विद्यते ननु निगद्यतां तवा ॥

—तृतीयाङ्क । ८

इसी प्रकार चन्द्रकला का कथन देखिये—‘सखि ! अलमिदानीमेतैः । पुनः पुनरपि अङ्गेषु हलाहलं वर्षतोऽमुष्माद्-दुष्टरजनीकराद् रक्षयितुमशरणार्हं प्रिय-सख्या—(२ अङ्क) , काव्य सौष्ठव की दृष्टि से द्वितीयाङ्क में व्याघ्र वर्णन का

भी छन्द कम महत्वपूर्ण नहीं है। वर्णन से व्याघ्र आँखों के समक्ष ही सारी क्रियाओं को सम्पादित सा करता प्रतीत होता है—

उदस्यैकं पादं विटपिषु मुहुः स्कन्धकषणात्,
 कृतव्योमाभङ्गः शकुनिकुलकोलाहलभरैः ।
 परिभ्राम्यन्नृच्चैः प्रकटरसनो व्यात्तवदनः-
 स्तरक्षुः क्रुद्धोऽयं क्षिपति मृगयूथानि परितः ॥

—द्वितीयाङ्कः । ६

व्याघ्र क्रुद्ध है। अपने एक पैर को उठाकर वृक्षों से अपना कन्धा बार-बार रगड़ रहा है, उसके गर्जन-स्वर से आकाश फट-सा रहा है। उसकी गर्जना से भयभीत होकर पक्षियों का समूह कोलाहल करने लगा है और मुंह फाड़कर अपने भयंकर दांतों को दिखाकर भय उत्पन्न करके मृग-समूह को भी वह तितर-वितर कर रहा है।

साहित्यिक-सौष्ठव का पुष्ट-प्रमाण यह भी है कि इसके 'लाङ्गूलेनाभिहत्य... (अङ्क २) वसन्त लँखैक (अङ्क १) 'सह कुसुमकदम्बै... (अङ्क २) और मध्येन मध्यं तनुमध्यमा में (अङ्क ३) साहित्यदर्पण के १०वें परिच्छेद में क्रमशः स्वभावोक्ति दृष्टान्त, श्लेष एवं समाधि अलंकारों के उदाहरण में उद्धृत किए गए हैं। अस्तु। चन्द्रकला नाटिका नाट्यशास्त्रीय लक्षणों एवं साहित्यिक विशिष्ट गुणों से युक्त एक विशिष्ट कृति है। इसके आधार पर हम कह सकते हैं कि आचार्य विश्वनाथ जी में साहित्य-शास्त्रीय गुण सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही रूपों में विद्यमान थे।

संस्कृत की नाटिकाओं के सन्दर्भ में—

'चन्द्रकला' का मूल्याङ्कन

महाकवि भासरचित 'स्वप्नवासवदत्तम्' कालिदास कृत 'मालविकाग्निमित्र' महाकवि श्रीहर्ष विरचित 'रत्नावली' एवं 'प्रियदर्शिका' कृतियों की कथा-वस्तु-वस्तु-विन्यास, घटना-संयोजन आदि का साम्य 'चन्द्रकला नाटिका' पर परिलक्षित होता है परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं की विश्वनाथ जी पर नाटिका

प्रणयन के समय भास-कालिदास के प्रणय-कथा प्रधान नाटकों के कथानक एवं हर्ष की नाटिकाओं की शैली का प्रभाव रहा। हम केवल यह मान सकते हैं कि पूर्ववर्ती कृतिकारों की रचना होने के कारण उनका कुछ आदर्श उनके सम्मुख अवश्य रहा और यह स्वाभाविक भी था। अस्तु, आगे हम विवेचन द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे कि किस अंश तक कथित कृतियों का प्रभाव विश्वनाथ जी की इस नाटिका पर है।

नाट्यशास्त्रीय लक्षणों के अनुसार नाटिकाशृंगार रस प्रधान है जैसे रत्नावली, प्रियदर्शिका। नाटिका का नाम भी नायिका के नाम पर रखा गया है। यह केवल नायिका की प्रधानता के कारण न कि हर्षदेव की नाटिकाओं के अनुकरण पर विश्वनाथ जी ने रखा है। नायिका चन्द्रकला, स्वप्नवासवदत्तम् की 'वासवदत्ता' और 'रत्नावली' की 'रत्नावली' की भाँति गुप्तरीति से अन्तः पुर में रही और वहीं राजा से अनुराग होता है। इसे हम 'रत्नावली' अथवा वासवदत्तम् का प्रभाव-जनित संयोजन न मानकर नाट्यशास्त्रीय लक्षणानुसारी ही कहें तो असंगत नहीं है—। 'अन्तःपुरादि सम्बन्धादासन्नाश्रुतिवर्णनः'। (दशरूपक)। रत्नावली में नायिका के लिए सिद्ध पुरुष की घोषणा थी कि इसका पाणिग्रहण करनेवाला पुरुष चक्रवर्ती सम्राट् होगा और 'चन्द्रकला' की नायिका के लिए 'आकाशवाणी' यस्तु भूमिपतिभूमौ... प्रदास्यति ने ऐसी विलक्षण उक्ति की। यह नायिका का महत्व कथन एवं सौन्दर्य-सुलक्षण-युक्ता होने का प्रमाण है, अतः नाटिका के लेखक को किसी न किसी प्रकार संयोजन करना चाहिए ही। रत्नावली का अनुकरण कहना आचार्य विश्वनाथ जैसे 'नाट्यवेददीक्षागुरु' के लिए उचित नहीं प्रतीत होता।

नाटिका प्रसादगुणपूर्ण वैदर्भी-रीति में लिखी गयी है। शृंगार-रस के सहायक ऋतु-वर्णन, चन्द्रज्योत्स्ना आदि का भी अंकन हुआ है। रत्नावली के द्वितीय अङ्क में—सागरिका (रत्नावली) अपनी सखी सुसंगता के साथ वार्तालाप में व्यस्त है तभी राजा का पालतू बन्दर बन्धन तोड़कर राजभवन की ओर बढ़ता है। उसे देखकर वे दोनों वहाँ से भयभीत होकर भागती हैं। उसके पश्चात् ही विदूषक और राजा का प्रवेश होता है।' इसी प्रकार की घटना

चन्द्रकला में भी (द्वितीय अङ्क) 'तरक्षु' के आगमन से उपस्थित होती है । उस समय वहाँ नायिका (चन्द्रकला) नहीं बल्कि महारानी वसन्तलेखा अपनी सखियों के साथ हैं । उससे भयभीत महारानी अन्तःपुर को चली जाती हैं राजा तरक्षु को मारने के लिए प्रस्थान करता है । दोनों घटनाएँ समान-सी प्रतीत होती हैं । परन्तु अनुशीलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि दोनों नाटिकाओं में उपस्थित 'बन्दर' और 'तरक्षु' के कारण-कार्य में बहुत ही अन्तर है ! रत्नावली में बन्दर की उपस्थिति सहज घटना लगती है • परन्तु 'तरक्षु' का प्रकट होना रहस्यात्मक है । 'तरक्षु' की इस कल्पना से विश्वनाथ जी ने नायक के सुहृद् रसालक के बुद्धि-कौशल का स्पष्ट परिचय दिया है और उसे उनके कार्य-सम्पादन के सहायक रूप में उपस्थित किया है ।

दारागंज, प्रयाग-६

—अनुवादक

गुरु-पूर्णिमा, संवत् २०२३

संस्कृत की कुछ अन्य नाटिकाएँ



१. रत्नावली	रचयिता श्री हर्ष
२. प्रियदर्शिका	" "
३. विद्धशालभञ्जिका	" महाकवि राजशेखर
४. चन्द्रकला	" महाकवि नारायण
५. कर्णसुन्दरी	" महाकवि विल्हण
६. पारिजातमञ्जरी	" महाकवि मदनपाल सरस्वती
७. शृङ्गारवापिका	" श्री विश्वनाथ भट्ट
८. उषारागोदय	" श्री रुद्रचन्द्र देव
९. वृषभानुजा	" श्री मथुरादास
१०. चन्द्रप्रभा	" ?
११. मृगाङ्गलेखा	" श्री विश्वनाथदेवकवि
१२. प्रभावतीपरिणय	" श्री विश्वनाथ कविराज
१३. कमलिनी कलहंस	" कविराज चूडामणि दीक्षित
१४. मणिमाला	" श्री अनादि मिश्र
१५. श्रीकृष्णभक्तिवात्सल्य	" श्री रामचन्द्र देव
१६. अनङ्गवती	" ?
१७. इन्दुलेखा	" ?
१८. कौशलिका	" भट्ट श्री भवनुचूड़
१९. इन्दुमती	" ?
२०. चित्रलेखा	" ?
२१. वासन्तिका	" श्री रामचन्द्र
२२. कुवलयवती	" श्री कृष्ण कविशेखर
२३. शर्मिष्ठाविजय	" ?
२४. शृङ्गारतरङ्गिणी	" श्री वेंकटाचार्य
२५. रम्भामञ्जरी	" नयचन्द्र सूरि

पात्रपरिचय :

प्रमुखपात्राणि

सूत्रधारः	—	प्रस्तावकप्रधाननटः
नटी	—	सूत्रधारपत्नी
चित्ररथदेवः	—	नायकः
सुबुद्धिः	—	चित्ररथदेवस्य प्रधानामात्यः
रसालकः	—	विदूषकः
शबरः	—	प्रमदोद्यानपालकः
वन्दिनौ	—	पाण्ड्यनरेशसन्देशवाहकौ
चन्द्रकला	—	नायिका
वसन्तलेखा	—	प्रधानमहिषी
रतिकला]	—	वसन्तलेखाविश्वासभाजनदासीयुगलम्
माधविका]		
सुनन्दना	—	नायिकायाः सखी

अन्यपात्राणि

पाण्ड्येश्वरः	—	पाण्ड्यनरेशः
विक्रमाभरणः	—	चित्ररथदेवस्य सेनापतिः
शबरस्वामी	—	शबराधिपः
मेदिनी	—	चित्ररथदेवस्यापरा पत्नी

श्रीगणेशाय नमः

चन्द्रकला-नाटिका

। प्रथमोऽङ्कः ।

जीयासुः शफरायमाणशशभृल्लेखाः स्वलत्कैरव-
व्रातोद्भ्रान्तमधुव्रतव्रजमिषादुत्क्षिप्तनीलांशुकाः ।
विन्दन्त्यो^१ गिरिजाकटाक्षपतनादादित्यजासङ्गमं,
नृत्यद्भूर्गकिरीटकोटिचपलाः^२ स्वर्गापर्गावीचयः । १

नृत्यद्भूर्गकिरीटकोटिचपलाः—ताण्डवनृत्यं कुर्वतः शङ्करस्य मुकुटाग्रं
चञ्चलाः, शफरायमाणशशभृल्लेखाः—शफर-मत्स्य इव आचरन्ती चन्द्रलेखा
यासु तादृश्यः, स्वलत्कैरवव्रातोद्भ्रान्तमधुव्रतव्रजमिषात्—कुमुद-
पुष्पसमूहे पतताम् उन्मत्तभ्रमराणां समूहस्य व्याजात्, उत्क्षिप्त-
नीलांशुकाः—उपरि घृतं नीलवस्त्रमिव याभिः तादृश्यः, गिरिजाकटाक्षपत-
नात्—पार्वतीकटाक्षपातात्, आदित्यजासङ्गमं—यमुनया सङ्गमं, विन्द-
न्त्यः—प्राप्नुवन्त्यः, स्वर्गापर्गावीचयः—मन्दाकिनीतरङ्गाः जीयासुः—
विजयन्ताम् । १

(ताण्डव) नृत्य करते समय शंकर के मुकुट के अग्रभाग पर गंगा जी की लहरें विजयशालिनी हों (विजय प्रदान करें), जिनके बीच पड़ी (शिव के भाल की) चन्द्रलेखा, शफरी (छोटी मछली) की भाँति प्रतीत होती है, जो (लहरें) दोलायमान कमलिनी-दल पर उड़ते हुए भ्रमर-समूह रूपी नीलांशुक से आच्छादित रहती हैं तथा जिन पर पार्वती का कटाक्ष पड़ने के कारण गंगा-यमुना के संगम की सृष्टि होती है । (पार्वती—कटाक्ष में यमुना

१. विभ्रत्यो इति पाठभेदः २. चपला इति पाठान्तरम् ।

[नान्द्यन्ते]

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण । (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये !
इतस्तावत् ।

(प्रविश्य)

नटी—एषास्मि । आज्ञापयत्वार्यः । (एसाम्हि । आणबेदु अज्जो)

नृत्यङ्गकिरीटकोटिचपलाः—नृत्यन् भर्गः (कर्मधारय), तस्य
किरीटम्, तस्य कोटिः, तस्यां, चपलाः । शफरायमाणशशभृल्लेखाः—
शफर इव आचरन्ती इति शफरायमाणा शफर + क्यङ् = शफराय (नामधातु)
+ लट् + शानच्, मुक् आगम । शशं विभर्ति इति शशभृत् शश + भृ +
क्विप्, तुक्, आगम, शशभृतः लेखा, शशभृल्लेखा, शफरायमाणा शशभृल्लेखा
यासु तादृश्यः । स्वलत्कैरवव्रातोद्भ्रान्तमधुव्रतव्रजमिषात्—कैरवाणां
व्रातः उद्भ्रान्ताः मधुव्रताः, कैरवव्राते उद्भ्रान्तमधुव्रताः स्वलन्तः कैरवा-
तोद्भ्रान्तमधुव्रताः तेषां व्रजः, तस्य मिषः, तस्मात्, आदित्यजासङ्गमम्—
आदित्यात् जायते या सा आदित्यजा आदित्य जन् + ड + टाप् तया संगमः तम् ।

नान्द्याः—पूर्वोक्तायाः स्तुतेः, अन्ते—समाप्तौ । सूत्रधारः—नृटाध्यक्षः
आगत्य वदतीति शेषः । अतिविस्तरेण—सुबहुलेन (नान्दी—प्रयोगेण)
अलं—व्यर्थम् । नेपथ्याभिमुखम्—नेपथ्यं नाम रङ्गस्थलस्य पश्चात्
यवनिकान्तरितो वर्णग्रहणादियोग्यकुशीलवकुटुम्बस्यावस्थानदेशः तस्य
अभिमुखं सम्मुखम्, अवलोक्य—दृष्ट्वा । आर्ये—माननीये, इतस्तावत्—इतः

के नीले जल और शकर की जटाओं में क्रीड़ा करती लहरों में गंगा के धवल
जल की कल्पना की गयी है) । ११

[नान्दी के पश्चात्]

सूत्रधार—बहुत अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है ।
(नेपथ्य की ओर देखकर) प्रिये, इधर आओ ।

(प्रवेश कर)

नटी—यह हूँ मैं । आर्य आदेश करें ।

अस्मिन् स्थाने रङ्गमञ्चे इति यावत्, तावत्शब्दोऽज्ञावधारणार्थकः ।
प्रविश्य—रङ्गभूमौ प्रवेशं कृत्वा, एपास्मि—अत्राहं वर्ते । आर्यः—पूज्यः
आज्ञापयतु—आदिशतु ।

टिप्पणी—नान्द्यन्ते—नन्दयतीति नन्दः नन्द + णिच् + अच् कर्तरिपचा-
दित्वात् । नन्द एव नान्दः नन्द + अण् स्वार्थे प्रज्ञादित्वात् नान्द + ङीप् =
नान्दी । नान्द्याः अन्तः नान्द्यन्तः (प० त०), तस्मिन् । यस्य च भावेन
भावलक्षणम् इति सूत्रेण भावे सप्तमी । नाटक आरंभ करने के पहले उसकी
निर्विघ्न समाप्ति के लिए देवता आदि की जो स्तुति की जाती है, उसे नान्दी
कहते हैं । भरत मुनि ने कहा है कि नाटक में विघ्नशान्दयर्थं नान्दी-पाठ
अवश्य करना चाहिए—‘यद्यप्यङ्गानि भूयांसि पूर्वरङ्गस्य नाटके । तथाप्यवश्यं
कर्तव्या नान्दी विघ्नप्रशान्तये ॥’ नान्दी का लक्षण यह है—‘आशीर्वचनसंयुक्ता
स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते । देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥’
(साहित्यदर्पण) अर्थात् देवता, ब्राह्मण और राजा आदि की आशीर्वादि युक्त
स्तुति इसके द्वारा की जाती है, अतः इसे नान्दी कहते हैं । ‘आशीर्नम-
स्क्रियारूपः श्लोकः काव्यार्थसूचकः । नान्दीति कथ्यते । (आदिभरत) अर्थात्
आशीर्वाद और नमस्कार से युक्त श्लोक नान्दी कहलाता है । उसमें काव्य के
कथानक का संकेत भी होना चाहिए । ‘देवद्विजनृपादीनामाशीर्वचनपूर्विका ।
नन्दन्ति देवता यस्यां तस्मान्नान्दीति कीर्तिता ॥ नन्दन्ति काव्यानि
कवीन्द्रवर्गाः कुशीलवाः पारिषदाश्च सन्तः । यस्मादलं सज्जनसिन्धुहंसी
तस्मादियं सा कथितेह नान्दी ॥’ (नाट्यप्रदीप) नान्दी के विस्तार आदि
के विषय में यह कहा गया है—अष्टाभिर्दशभिर्वापि नान्दी द्वादशभिः पदैः ।
आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ॥’ अर्थात् नान्दी में आठ, दस या
बारह पद होने चाहिए । इसमें आशीर्वाद, नमस्कार या कथावस्तु का निर्देश
होना चाहिए । नान्दी के श्लोक एक से चार तक होते हैं । सूत्रधारः—रंग-
शाला का व्यवस्थापक । सूत्रं धारयति इति सूत्रं घृ + णिच् + अण् कर्तरि
‘कर्मण्यण्’ इत्यनेन, उपपद सं० । सूत्रधार का लक्षण—वर्णनीयतया सूत्रं प्रथमं

येन सूच्यते । रङ्गभूमि समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते ॥' (संगीत-सर्वस्व)
 अथवा 'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते । सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो
 निगद्यते ॥' अथवा 'नाट्यस्य यदनुष्ठानं तत् सूत्रं स्यात् सवीजकम् ।
 रङ्गदेवतापूजाकृतं सूत्रधार इति स्मृतः' ॥ अलमतिविस्तरेण—वि स्तृ +
 अप् भावे=विस्तरः, अत्यन्तं विस्तरः अतिविस्तरः (प्रादि स०), तेन ।
 अत्र 'गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका' इति वचनात् साधन-
 क्रियां प्रति अतिविस्तरः करणम्, तेन करणे तृतीया । विस्तार शब्द में
 'प्रथमे वाक्यशब्दे' सूत्र से घञ् प्रत्यय होता है । अत एव 'वाक्यस्य विस्तरः'
 और 'पटस्य विस्तारः' इस प्रकार प्रयोग करना चाहिए । नेपथ्याभिमुखम्—
 नेपथ्य शब्द पर्दा और पर्दे के पीछे रूप-धारण-स्थल दोनों को कहते हैं—
 'नेपथ्यं स्याज्जवनिका रङ्गभूमिः प्रसाधनम्' इत्यजयः । 'आकल्पवेषौ नेपथ्यं
 प्रतिकर्मं प्रसाधनम्' इत्यमरः । नेपथ्य का लक्षण यह है—'कुशीलवकुटुम्बस्य ग्रहं
 नेपथ्यमुच्यते' अर्थात् जहाँ अभिनेता अपने को सजाते और अभिनयोचित
 वेष धारण करते हैं, उसे नेपथ्य कहते हैं । नी + विच् = नेः = नेता ।
 तस्य पथ्यम् नेपथ्यम् (ष० त०) । अभिमुखम् (ष० त०) ।
 अवलोक्य—अव लोक् + क्त्वा—ल्यप् । आर्ये—यह आर्या का सम्बोधन
 है । नाट्यशास्त्र के नियमानुसार सूत्रधार अपनी पत्नी को 'आर्या' कहकर
 सम्बोधित करता है—'पत्नी चार्येति सम्भाष्या' । और सूत्रधार की
 पत्नी या नटी उसे आर्यः' या आर्यपुत्र' कहकर सम्बोधित करती है ।
 आर्यः—आराद् यातः इति आर्यः अर्थात् 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यनेन
 आराद्—असभ्यतादुराचारादिदोषेभ्यो दूरं गतश्च शिक्षासस्यताविद्या-
 दिभिश्च देवास्पदत्वं प्राप्तः इति आर्यः पृषोदरादित्वात् साधुत्वम् ।
 अथवा अतुं योग्यः ऋ (गतौ) + ण्यत् । वसिष्ठ के मत
 से आर्य का लक्षण यह है—'कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन् ।
 तिष्ठति प्रकृताचारे स वा आर्य इति स्मृतः' ॥ 'कुलं शीलं दया
 दानं धर्मः सत्यं कृतज्ञता । अद्रोह इति येष्वेतत् तानार्यान् सम्प्रचक्षते ॥'
 इति भरतः ।

सूत्रधारः—आर्ये, ! पश्य पश्य अयमिदानीं यवनपुरपुरन्धीवर्गनिर्गलदविरलनयनजलधारानिधौतगिरिकन्दरो निजभुज^१प्रतापतपनसमुत्सादितारातितिमिरनिकरश्चोलकोशलवङ्ग^२ हावङ्ग^३ कोच^४ काञ्ची-गौडडाहाल^५ मत्स्य^६ म्लेच्छलाट^७ कर्णाटप्रमुखराजराजीव^८ रजनीकरः सकलगुणरत्नरत्नाकरो निखिलानवद्यविद्यानिधिर्त्रिकुलकल्पद्रुमः सभामध्यमध्यास्ते^९ गजपतिर्महाराजाधिराजः त्रिकलिङ्गभूमण्डलाखण्डलः श्रीमन्निःशङ्कभानुदेवः^{१०} ।

आर्ये !—माननीय । पश्य पश्य—अवलोक्य अवलोक्य । अयं—पुरो दृश्यमानः यवनपुरपुरन्धीवर्गनिर्गलदविरलनयनजलधारानिधौत—गिरिकन्दरः—यवनपुरस्य मुहम्मदीयनगरस्य पुरन्धीवर्गाणां महिलावृन्दानां निर्गलन्तीभिः प्रस्रवन्तीभिः अविरलाभिः सान्द्राभिः नयनजलधाराभिः नेत्राम्बुप्रवाहैः निधौताः प्रक्षालिताः गिरिकन्दराः पर्वतगुहाः येन तादृशः,

सूत्रधार—प्रिये, देखो, देखो इस समय सभा के मध्य त्रिकलिंग भूमण्डल के इन्द्र महाराजधिराज श्रीमन्निःशङ्क भानुदेव विराजमान हैं । जिन्होंने यवन-स्त्रियों के नेत्रों से बहती हुई सतत जलधारा से पर्वत की कन्दराओं को धो डाला है, अपनी भुजाओं के बलप्रताप से समस्त शत्रुओं का समूल नाश कर दिया है, जैसे सूर्य किरणों के प्रकाश से घोर अन्धकार को नष्ट कर देता है, जो चोल, कोशल, बंग, हावंग, कोच, काञ्ची, गौड दाहल, मत्स्य, म्लेच्छ, लाट तथा कर्णाटक आदि नरेशों को मोददायक है जैसे चन्द्रमा कुमुदिनी-दल को प्रमुदित किया करता है और जो समस्त गुणों से सम्पन्न गुणसागर, विद्या एवं कलाओं के निधान तथा याचकों के लिए कल्पवृक्ष के समान हैं—

१. निजभुजः मू० पा० । २. लवङ्ग पाठभेदः । टावङ्ग पाठभेदः । ४. संभवतः कोचविहार । ५. काल पाठभेदः । ६. मच्छ पाठभेदः । ७. नट पाठभेदः । ८. राजीवराजि पाठान्तरम् । ९. सभामध्यास्ते पाठान्तरम् । १०. श्रीमान् निःशङ्कभानुदेवः पाठान्तरम् ।

आच्छन्ने धर्मधाम्नि^१ प्रखरहयखुरक्षुण्ण^२ पृथ्वीरजोभिः,
क्षिप्ते नक्षत्रलक्षे नभसि करिकरो^३ द्रूतगङ्गापयोभिः ।

निजभुजप्रतापतपनसमुत्सादितारातिमिरनिकरः — निजभुजप्रतापतपनेन स्वकीयबाहुपराक्रमरूपसूर्येण समुत्सादितः विनाशितः अरातिमिरनिकरः शत्रुरुपान्धकारसमूहः येन तादृशः, चोल-कोशल-वङ्ग-कोच-काञ्ची-गौड-डाहाल-मत्स्य-म्लेच्छ-लाट-कर्णाट-प्रमुखराजराजीवरजनीकरः—चोल-कोशलादिदेशानां राजानः नृपाः एव राजीवानि नीलकमलानि तेषां विकासाय रजनीकरः चन्द्रः इव, सकलगुणरत्नाकरः—सकलानां समस्तानां गुणरत्नानां श्रेष्ठगुणानां रत्नाकरः समुद्र इव, निखिलानवद्यविद्यानिधिः—निखिलानां समग्राणाम् अनवद्यानाम् उत्तमानां विद्यानां शास्त्राणां निधिः शेषविधिः इव, अर्थिकुलकल्पद्रुमः—अर्थिकुलानां याचकसमूहानां कल्पद्रुम कल्पवृक्ष इव, महाराजाधिराजः—सम्राट्, त्रिकलिङ्गभूमण्डलाखण्डलः—त्रिकलिङ्गराज्यस्य इन्द्र, इव गजपतिः, श्रीमन्निशङ्कभानुदेवः, इदानीम् अधुना, सभामध्यम्-परिषदौ मध्ये, अध्यास्ते—विराजमानोऽस्ति ।

यस्य—निःशङ्कभानुदेवस्य जैत्रयात्रावकाशे—विजयार्थं प्रयागे प्रखरहयखुरक्षुण्णपृथ्वीरजोभिः—प्रखरा तीक्ष्णाः ये हयखुराः अश्वशफाः तैः क्षुण्णैः मर्दितैः पृथ्वीरजोभिः धराधूलिभिः, धर्मधाम्नि-धर्म एव धाम यस्य तादृशे सूर्ये, आच्छन्ने-आवृते सति, करिकरोद्रूतगङ्गापयोभिः—करिणां गजानां कराः शुण्डाः तैः उद्धृतै उत्क्षिप्तै गङ्गापयोभिः गङ्गाजलैः, नभसि—आकाशे; नक्षत्रलक्षे—नक्षत्राणां ताराणां लक्षाणि यत्र तादृशे, क्षिप्ते—जाते, कीर्तिचन्द्रे कीर्तिः यथा चन्द्र इव इन्दुरिव इति तस्मिन्,

उसकी विजययात्रा के समय तीव्रगामी घोड़ों के खुराघातों से उड़ी धूलराशि से सूर्य-विम्ब ढक गया, मतवाले हाथियों ने अपनी सूड़ों से गंगा के जल को भर-भर कर जो ऊपर की ओर फेंका उन जल कणों से

१. धर्मधाम्नि पाठभेदः । २. क्षुण्णं मू० पा० । ३. कविबरो पाठभेदः ।

ज्योत्स्नाभिः कीर्तिचन्द्रे धवलयति जगज्जैत्रयात्रावकाशे,
 गौडक्षमापाललक्ष्मी^१ व्यरचयदचिरादेव यस्याभिसारम् । २
 यदस्माकमिदानीं^२ चतुर्दशभाषा^३ महाकविनिखिलानवद्य-
 विद्यामहोदधिराजहंसमहापात्रश्रीचन्द्रशेखरतनूजन्मनः श्रीमन्नारा-
 यणचरणारविन्दमधुकरीभूतचेतसः निजजनकसमधिगतनिखिल-

ज्योत्स्नाभिः—चन्द्रिकाभिः, जगत्—संसारं, धवलयति—उज्वलयति सति,
 गौडक्षमापाललक्ष्मीः—गौडदेशस्य राज्ञो राज्यश्रीः, अचिरादेव—शीघ्रम्,
 अभिसारम्—अभिसरणम् प्रियेण समागन्तु सङ्केतस्थलगमनमिति यावत्,
 व्यरचयत्—निर्वतंयामास । अत्रापि शार्दूलविक्रीडितं छन्दः । अत्र उत्प्रेक्षा-
 लङ्कारः । २

यत्—यस्मात्, इदानीम्—अधुना, चतुर्दशभाषामहाकविनिखिला-
 नवद्यविद्यामहोदधिराजहंसमहापात्रश्रीचन्द्रशेखरतनूजन्मनः— चतुर्दशभाषाणां
 शौरसेन्यादीनां महाकवेः महाकवयितुः निखिलाः समस्तः अनवद्याः उत्तमाः
 विद्याः शास्त्राणि एव महोदधयः समुद्राः तेषां राजहंसस्य इव महापात्रस्य
 प्रधानामात्यस्य उत्कृष्टसम्प्रदायब्राह्मणस्य वा श्रीचन्द्रशेखरस्य पुत्रस्य
 श्रीमन्नारायणचरणारविन्दमधुकरीभूतचेतः—श्रीमतो नारायणस्य चरणमेव
 अरविन्दं पद्मं तस्मिन् मधुकरीभूतं (सतततत्सेवनात् चेतः चित्तं यस्य
 तादृशस्य, निजजनकसमधिगतनिखिलिसाहित्यतत्त्वस्य—निजजनकात् स्वपितुः

आकाश में तारों की छटा छा गयी, और फिर इनके बीच उसके कीर्ति-चन्द्र
 की निर्मल ज्योति उनके इस जगद-विजयी अभियान में चारों ओर प्रकाशित
 होने लगी । तब उस धवल चांदनी में गौड-नरेश की लक्ष्मी ने त्रिकलिंग-नरेश
 पर मुग्ध होकर शीघ्र ही उससे अभिसार किया । २

अतः आज चौदह भाषाओं के महाकवि, सम्पूर्ण उत्तम विद्या-

१. लक्ष्मि मू० पा० । २. तस्मादस्माकमिदानीं पाठान्तरम् ।

३. भाषाविलासिनीभुंजङ्ग पाठान्तरम् ।

साहित्यतत्त्वस्य नाट्यवेददीक्षागुरोः गौरवैक^१ बान्धवस्य गजपति-
महाराज्यसान्धिविग्रहिक^२ श्रीविश्वनाथकविराजस्य कृतिमभिनवां
चन्द्रकलां नाम नाटिकामभिनेतुमुचितोऽयं समयः ।

नटी—आज्ञापयत्वार्यः । कतमं समयमुद्दिश्य गास्यामि । (आणवेदु
अज्जो कदमं समय उद्दिसिअ गाइस्सम् ।)

सकाशात् समधिगतं प्राप्तं निखिलसाहित्यस्य सम्पूर्णकाव्यस्य तत्त्वं सारो येन
तादृशस्य, नाट्यवेददीक्षागुरोः—नाट्यशास्त्रस्योपदेष्टुः, गौरवैकबान्धवस्य—
गौरवं प्रतिष्ठा एव एकः बान्धवो बन्धुर्यस्य तादृशस्य, गजपतिमहाराज्यसान्धि-
विग्रहिकश्रीविश्वनाथकविराजस्य—गजपतेर्विशालराज्यस्य सन्धिविग्रहयोर-
धिकारे नियुक्तस्य श्रीविश्वनाथकविराजस्य—विश्वनाथनाम्नः कविश्रेष्ठस्य
(कवीनां राजा श्रेष्ठः कविराज इति गुणप्रयुक्तो व्यक्तिगत उपाधिः कलाप-
चन्द्रप्रणेतुः सुषेणशर्मणः कविराजोपाधिवत्, न तु वैद्यजातिमात्रायतः
कविराजेत्युपाधिः) अभिनवां—नूतनां, कृति—रचनां, चन्द्रकलां नाम नाटिकाम्
अभिनेतुम्—खेलितुम् अयम्, उचितः समयः—उपयुक्तः कालः अस्तीति शेषः ।

कतमं, समयम्-ऋतुमिति यावत्, उद्दिश्य-उपलक्ष्य, अहं गास्यामि इति,
आर्यः—पूजनीयो भवान्, आज्ञापयतु ।

समुद्र के राजहंस, महापात्र श्री चन्द्रशेखर के पुत्र कविराज श्री विश्वनाथ की
नवीन रचना 'चन्द्रकला' नामक नाटिका खेलने के लिए यह उचित समय है ।
वह कविराज विश्वनाथ श्रीमन्नारायण के चरणों में हमेशा लीन रहनेवाले
(जैसे भौरा कमल में लीन रहता है) अपने पिता से जिन्होंने साहित्य के
सभी तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त किया और जो नाट्यवेद के दीक्षागुरु, परमयशस्वी
तथा गजपति-साम्राज्य के सान्धिविग्रहिक (सन्धि और युद्ध का निश्चय
करनेवाले मंत्री) थे ।

नटी—आर्य ! आज्ञा दें कि गीत में किस काल (ऋतु) का
संकेत हो ।

१. गौरवैक मू० पा० तात्पर्यहीनः । २. सान्धिविग्रहिकमहापात्र पाठभेदः ।

सूत्रधारः—आर्ये ! अमुमेवाचिरोपस्थितकेतकीपरिमलमिलितमधुकर-
वधूनिकर^१ ऋङ्कारमुखरितदिशाभोगं मलयाचलदरीगलितनिर्झर-
सलिलशीकरशिशिरधीरमास्तचूतकाननं दरदलित^२ चूताङ्कुरास्वाद-
सुन्दरमदकलकलकण्ठकुलकलितकाकलिविरचितविरहिकर्णज्वरं वसन्त-
समयम् । इह हि—

अमुमेव, अचिरोपस्थिकेतकीपरिमलमिलितमधुकरवधूनिकरऋङ्कारमुख-
रितदिशाभोगम्—अचिरेण अविलम्बेन उपस्थितायाः विकसितायाः केतक्याः
परिमलेन मकरन्देन मिलितानां संगतानां मधुकरवधूनां भ्रमरीणां यो निकरः
समूहः तेन मुखरितः गुञ्जितः दिशानाम् आभोगः विस्तारः यस्मिन् तादृशं,
मलयाचलदरीगलितनिर्झरसलिलशीकरशिशिरधीरमास्तचूतकाननं—मलयाचलस्य
मलयपर्वतस्य दरीभ्यः कन्दराभ्यः गलितानां निःसृतानां निर्झराणां वारि-
प्रवाहाणां सलिलशीकरैः अम्बुकणैः शिशिरः शीतलः धीरः मन्दश्च मास्तः
वायुः चूतकानने आम्रवर्णे यस्मिन् तादृशं, दरदलितचूताङ्कुरास्वादसुन्दरमद-
कलकलकण्ठकुलकलितकाकलिविरचितविरहिकर्णज्वरं—दरम् ईषत् यथा स्यात्
तथा दलितस्य विकसितस्य चूताङ्कुरस्य आम्रमञ्जर्याः आस्वादेन सुन्दराः
मदकलाः मदमत्ताश्च ये कलकण्ठाः कोकिलाः तेषां कुलानि समूहाः तेषां
कलितकाकलिभिः अव्यक्तमधुरध्वनिभिः विरचितः उत्पादितः विरहिणां कर्णे
ज्वरो येन तादृशं वसन्तसमयम्, अभिलक्ष्य गीयताम्, इति शेषः ।

सूत्रधार—आर्ये ! इसी वसन्तकाल का वर्णन करो—भौरि केतकी—गुप्प के
परिमल से आकृष्ट होकर मधुर गुंजार करने लगे हैं, उनकी ध्वनि से दिशाएँ
मुखरित हो रही हैं, मलयाचल के गुफा-निर्झर-कणों से वायु शीतल हो गयी
है, और उसकी मन्द-गति के कारण आम्रवन हिल रहे हैं। अधखिली आम
की मंजरी के रसास्वाद से कोकिल मत्त हो गए हैं। वे अपने मधुर-कण्ठ से कूक
कर विरहिणियों को विकल करने लगे हैं। यहाँ तो—

१. मधुकरी वधूनिकर मू० पा० । दरदलित मू० पा० ।

लताकुञ्जं गुञ्जन्मदवदलिपुञ्जं चपलयन्,
 समालिङ्गन्नङ्गं^१ द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन्,^२
 मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्,
 रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि । ३^३
 नटी—[गायति]

अमुञ्चन्नपि निजां तां कुन्दलतां सुचिरोपभुक्ताम्^४ ।
 चुम्बति रसालवल्लीमभिनवमधुगन्धां भ्रमरः । ४

गुञ्जन्मदवदलिपुञ्जं—गुञ्जन् रुवन् मदवान् मदमत्तश्च अलिपुञ्जो
 भ्रमरसमूहो यत्र तादृशं, लताकुञ्जं, चपलयन्—चपलीकुर्वन् सञ्चालयन्
 अङ्गं—विहारपरायणानां गात्रं, समालिङ्गन्—संस्पृशन् अनङ्गं—
 कामं, द्रुततरम्—अतिशीघ्रं, प्रबलयन्—प्रवलीकुर्वन्, —दलितम्
 —प्रस्फुटितम्, अरविन्दं मन्दं मन्दं शनैः शनैः, तरलयन्—
 तरलीकुर्वन् सञ्चालयन् तथा रजोवृन्दं—पुष्पाणां परागसमूहं
 विन्दन्—गृह्णन्, मरुत्—वायुः, दिशि दिशि, मकरन्दं—पुष्पमधु-
 किरति—विक्षिपति । अत्र माधुर्यगुणः शिखरिणीच्छन्दः । ३

निजां—स्वकीयां, सुचिरोपभुक्तां—दीर्घकालयन्तमुपभुक्तां, तां कुन्द-
 लताम्, अमुञ्चन्नपि—अत्यजन्नपि, भ्रमरः अभिनव-मधुगन्धां—
 नवपरागसौरभयुक्तां, रसालवल्लीम्—आम्रलतां चुम्बति । ४

वास्तव में—यह मलयपवन गुञ्जन करनेवाले मतवाले भीरों से युक्त
 होकर लताकुञ्ज को चञ्चल कर रहा है । शरीरांगों में उसके सुखद स्पर्श से
 कामोन्माद बढ़ रहा है, विकसित कमलों का समूह उससे कांपने लगा है । और
 यही पवन सुमन-सौरभ को धारण किये हुए मन्द-मन्द चलकर प्रत्येक दिशाओं
 में मकरन्द बिखेर रहा है । ३

१. समालिङ्ग नङ्गं मू० पा० । २. प्रचलन् पाठभेदः । ३. तदाज्ञा—
 पयत्वार्थः मू० पा० । ४. सुरोपभुक्तां मू० पा० ।

(अमुअन्तोवि णिअं तं^१ कुन्दरदं सुइरउबहुत्त ।

चुम्बइ रसालवल्लीं अहिणवमहुगन्धं भ्रमरो ॥४)

सूत्रधारः—[सशिरः कम्पम्] आर्ये ! साधु गीतम् । एवं खलु शिथिलितपौर^२ कुन्दलतानुरागातिशयमभिनवप्रफुल्लसहकारवल्लीनिबद्ध-प्रेमाणं मधुकरं वर्णयन्ती सत्यमाह^३ भवती । तथा हि—

चिरादधिगतं वस्तु^४ रम्यमप्यवधारयत्^५ ।

पुरःप्रतिनवं वीक्ष्य मनस्तदनुधावति ॥५

शिथिलित पौरकुन्दलतानुरागातिशयम्—शिथिलितः मन्दीकृतः पौरकुन्दलतायाः नगरस्थकुन्दवल्याः अनुरागातिशयः दृढ प्रेम येन तादृशम् अभिनवप्रफुल्लसहकारवल्लीनिबद्धप्रेमाणम्—सद्यः पुष्पितायाम् आम्रलतायां निबद्धं स्थिरीकृतं प्रेम येन तादृशं, मधुकरं—भ्रमरं, वर्णयन्ती, भवती—त्वं सत्यमाह—यथार्थं वदसि ।

मनः—चित्तं, चिरात्—दीर्घकालात्, अधिगतं—प्राप्तं, वस्तु रम्यमपि—सुन्दरमपि, अवधारयत्—जानत्, पुरः—अग्रे, प्रतिनवं—नूतनं (वस्तु), वीक्ष्य—दृष्ट्वा, तत् अनुधावति—तस्य पश्चाद्वावति । ५

नटी—(गाती है) भ्रमर नवमधुरसंयुक्त आम की लता का चुम्बन करने लगा परन्तु वह भली भाँति उपयोग की गयी कुन्दलता का भी परित्याग नहीं पा रहा है । ४

सूत्रधार—[सिर हिलाकर] प्रिये, तुमने उचित ही गाया । महल की कुन्दलता के अनुराग में बद्ध भ्रमर का वर्णन विलकुल सत्य है । वह इस समय नव पुष्पित सुमनों से आच्छन्न आम्रलता में अनुरक्त हो गया है । कहा गया है—

हृदय का स्वभाव ही है कि वह पूर्वप्राप्त वस्तु की सुन्दरता का अनुभव करने पर भी नवीन वस्तु से आकर्षित होकर उधर ही दौड़ता है । ५

१. णितं मू० पा० । २. शिथिलतप्तौ च मू० पा० । ३. सत्यमाह मू० पा० । ४. त्वस्तु मू० पा० । ५. अवधारयत् ।

[नेपथ्ये]

साधु ! शैलूष, साधु । 'चिरादधिगतमित्यादि'-

सूत्रधारः—[आकर्ण्य] आर्ये, अयमसावितः प्राप्त एव क्षोणीभुज-
श्चित्तरथदेवस्य सुबुद्धिनामा प्रियामात्यः । तदावामपि समन्तर-
करणाय सज्जीभवावः ।

[इति निष्क्रान्तौ]

प्रस्तावना

[ततः प्रविशति सुबुद्धिः 'साधु शैलूषे' त्यादि नेपथ्योक्तं पठित्वा]

शैलूष—नट ! साधु—समीचीनम् । क्षोणीभुजः—क्षोणीं पृथ्वीं
भुनक्ति इति क्षोणीभुक्, भुजेः कतरि क्विप्, तस्य—राज्ञः । प्रियामात्यः—
प्रियमन्त्री । समनन्तरकरणाय—सद्यः पश्चात् कर्तव्यसम्पादनाय, सज्जीभवावः—
उच्चतां स्याव । निष्क्रान्तौ—निर्गतौ नटीसूत्रधाराविति शेषः ।

प्रस्तावना— आमुखं (समाप्तम्) । प्रस्तावनालक्षणं यथा
साहित्यदर्पणे—'नटी विदुषको वापि पारिपाश्वकं एव वा । सूत्रधारेण सहिताः
संलापं यत्न कुर्वते ॥ चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा ॥ (६-३१-३२)' इति तत्र
च पञ्चविधासु प्रस्तावनासु प्रयोगातिशयाद्ध्या प्रस्तावनेयम् । तल्लक्षणं
यथा—'यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते । तेन पात्रप्रवेशश्चेत् प्रयोगा-
तिशयस्तदा' । इति ।

(नेपथ्य में) ठीक, सूत्रधार ! ठीक कहते हो । पूर्वप्राप्त वस्तु को सुन्दर
मानकर भी.....इत्यादि ।

सूत्रधार— (सुनकर) प्रिये ! महाराज चित्ररथदेव के प्रिय मन्त्री
सुबुद्धि आ गये । अतः हमें भी निश्चित कार्य की तैयारी करनी चाहिए ।

(दोनों का प्रस्थान)

प्रस्तावना समाप्त

[इसके बाद 'ठीक सूत्रधार ! ठीक इत्यादि कहते हुए सुबुद्धि का प्रवेश]

सुबुद्धिः—अनेन खलु चन्द्रकलायां भर्तूरनुरागबन्धः स्यान्नवेति चिन्तयतो मम दत्तमेव प्रतिवचनं भवता^१ । तथा ह्येषा कर्णाटविजयार्थं प्रस्थितेन विक्रमाभरणाख्येन सेनापतिना मध्येमार्गं कुतोऽप्यधिगत्वा निरुपमसौन्दर्यलक्ष्मी विग्रहवतीति राजवंशजेयमिति^२ कथयित्वा मत्परितोषकाङ्क्षणा मदन्तिकं प्रहिता । मया चात्यन्तसुलक्षणेति निरूप्यमाणा तत्काले च—

अनेन—वाक्येन, चन्द्रकलायां, भर्तुः—स्वामिनः, अनुरागबन्धः—प्रेमबन्धनं स्यान्नवेति, चिन्तयतः—विचारयतः मम—मे, भवता, प्रतिवचनम्—उत्तरं दत्तमेव । कर्णाटविजयार्थं—कर्णाटदेशं विजेतुं, प्रस्थितेन—चलितेन, विक्रमाभरणाख्येन.....अधिगत्य—प्राप्य, इयं—चन्द्रलेखा, निरुपमसौन्दर्यलक्ष्मीरिव—निरुपमा अद्वितीयासौन्दर्यलक्ष्मीः लावण्यश्रीः इव, विग्रहवती—शरीरधारिणी इति, राजवंशजा—राजकुलोत्पन्ना इति, कथयित्वा, मत्परितोषकाङ्क्षणा—मत्सन्तोषाभिलाषिणा (सेनापतिना), मदन्तिकं—मम समीपं, प्रहिता—प्रेषिता । मया च, अत्यन्तसुलक्षणा—सामुद्रिकसर्वशुभलक्षणसम्पन्ना, इति, निरूप्यमाणा—वीक्ष्यमाणा (इयम्), तत्काले च—तस्मिन्नेव अवलोकनसमये,

सुबुद्धि—चन्द्रकला के प्रति महाराज का अनुराग है अथवा नहीं, ऐसा सोचते हुए, मुझे जैसे—यह कह कर आपने उत्तर ही दे दिया । क्यों-कि ऐसा है कि कर्णाटक-विजय के लिए प्रस्थित विक्रमाभरण नामक सेनापति ने कहीं मार्ग में इस युवती को प्राप्त किया । लक्ष्मी के समान सौन्दर्यराशि को विखेरती हुई किसी राजवंश की कन्या समझा तथा मेरे सन्तोष के लिए उसने मेरे पास प्रेषित कर दिया । और मैं भी सुन्दर लक्षणों से युक्त युवती का निरीक्षण कर रहा था कि दिव्य वाणी सुनायी पड़ी—

१. भवन्ती मू० पा० । २. राजवंशजेयमिति मू० पा० ।

यस्तु भूमिपतिभूमौ^१ पाणिमस्या ग्रहीष्यति^२ ।

लक्ष्मीः^३ स्वयमुपागत्य वरस्मै प्रदास्यति ॥ ६

इत्यमानुषीं गिरमाकर्ण्य तत्परिणयेन भर्तृरुपचयं महान्तं चिन्त-
यता पाण्ड्यराजदुहितुर्महादेव्या भयेन स्वयं महाराजेनेनां^४ परिणाय-
यितुमशक्नुवता^५ अन्तःपुरचारिणीमिमामवलोक्य^६ स्वमेव परिग्रहीष्यति^७

भूमौ—पृथिव्यां, यः, भूमिपतिः—राजा, अस्याः—चन्द्र-
कलायाः, पाणिं—करं, ग्रहीष्यति—धारयिष्यति परिणेष्यतीत्यर्थः, लक्ष्मीः
स्वयं—साक्षात्, उपागत्य—समीपमागत्य, अस्मै—भूमिपतये, वरम्—
अभीष्टं, प्रदास्यति । अत्र अनुष्टुप् छन्दः । ६

इति—इत्थम्, अमानुषीं गिरं—दैवीं वाचम्, आकर्ण्य—श्रुत्वा, तत्परिणयेन—
चन्द्रकलाविवाहेन, भर्तुः—स्वामिनः, महान्तम्, उपचयम्—उन्नतिं, चिन्त-
यता—विचारयता, पाण्ड्यराजदुहितुः—पाण्ड्येश्वरस्य पुत्र्याः, महादेव्याः—
महाराज्ञ्याः, भयेन—भीत्या, स्वयं, महाराजेन—निश्शङ्कभानुदेवेन, (सह) एनां—
चन्द्रकलां, परिणाययितुं—विवाहयितुम्, अशक्नुवता—असमर्थेन (मया)
अन्तःपुरचारिणीम्—अवरोधनिवासिनीम्, इमां—चन्द्रकलाम्, अवलोक्य—
दृष्ट्वा, स्वामी, स्वयमेव, परिग्रहीष्यति परिणेष्यति, इति, विचिन्त्य—आलोच्य
इयं—कन्यका, मम, वंशजा—वंशोत्पन्ना, सखीपदे—सख्याः स्थाने, स्थापयित्वा

पृथ्वी पर जो कोई भी राजा इसका पाणिग्रहण करेगा, उसके पास
लक्ष्मी स्वयं आकर उसको वरदान देगी । ६

इस दिव्यवाणी को सुनकर स्वामी की समृद्धि के लिए उनका इसके साथ
परिणय कराने का विचार किया, परन्तु पाण्ड्यराजपुत्री महादेवी के भय से मैं
स्वयं महाराज के साथ इसका परिणय कराने में असमर्थ था । अतः मैंने सोचा कि
अन्तःपुर में रहती हुई इसकी सुन्दरता को देखकर स्वामी स्वयं ही परिणय कर
लेंगे, यह सोच, 'यह मेरे कुल की कन्या है, आप अपनी सखी के रूप में मानकर

१. भूमिपतिभूमौ मू० पा० । २ ग्रहीष्याति मू० पा० । ३ लक्ष्मी मू०
पा० । ४ महाराजेनेनां मू० पा० । ५ अशक्नुवानेन मू० पा० । ६ मिमावलोक्य मू०
पा० ७ परिग्रहीष्यति मू० पा० ।

स्वामीति विचिन्त्य मम वंशजेयं सखीपदे स्थापयित्वा परिपालनीयेति सादरं समर्पिता^१ देव्याः । [विचिन्त्य] तत् कुतः पुनरिदानीम् आकर्णयामो^२ वृत्तान्तमेतस्याः । कथं चिरादा^३ हूयमानापि नाभिवर्तते मामन्तः पुरचारिणी सुनन्दना ।

सुनन्दना^४—[प्रविश्य] आर्य ! वन्दे । (अज्ज, वन्दामि ।)

सुबुद्धिः—सुनन्दने ! कथय चन्द्रकलावृत्तान्तम् ।

सुनन्दना—आर्य ! कथयितुं विभेमि^५ । (अज्ज, कधिदुं भिएमि ।)

सुबुद्धिः—कथय ! न खलु सम्भावय रहस्योद्भेदमस्मादृशेषु ।

निधाय, परिपालनीया—पोषणीया, इति, देव्याः—महाराज्ञ्यं, सादरम्—आदरेण सहितं यथा स्यात् तथा, समर्पिता—दत्ता । तत् कुतः—कस्मात्, पुनः इदानीम्—अधुना, एतस्याः—चन्द्रकलायाः, वृत्तान्तं—समाचारम्, आकर्णयामः—श्रोष्यामि । कथं, चिरात्—बहोः कालात्, आहूयमानापि—आकार्यमाणापि, अन्तःपुरचारिणी, सुनन्दना—एतन्नाम्नी दासी, माम्, न अभिवर्तते—न उपैति ?

न खलु.....मत्तः रहस्यप्रकटनं भविष्यति इति सम्भावनां मा कार्षीः पूर्वं.....प्रागेव भवते मया निवेदितम् । इयं—चन्द्रकला, दर्शनं—

इसका पालन करें, महारानी को सौंप दिया । [सोचकर] तो इस समय पुनः किससे और किस प्रकार इसका समाचार मालूम करूँ ? क्या कारण है कि अन्तःपुर में रहनेवाली सुनन्दना जिसको मैंने बहुत देर हुई बुलवाया था, आ नहीं रही है ।

सुनन्दना—(प्रवेश कर) आर्य ! प्रणाम ।

सुबुद्धि—सुनन्दने ! चन्द्रकला का समाचार बताओ ।

सुनन्दना—आर्य ! बताने से डरती हूँ ।

सुबुद्धि—कहो, मुझ जैसे व्यक्ति से रहस्योद्घाटन कभी भी सम्भव नहीं है ।

१. समर्पिका मू० पा० । २. आकर्णयामि इति पाठस्तूचितः । चिरादा मू० पा० । सुनन्दना मू० पा० । ५. विभेम मू० पा० ।

सुनन्दना—पूर्व खलु कथितमेव मया आर्या^१ इयं खलु दर्शनमात्र-
केणैव^२ महाराजानुरागबन्धनं भविष्यतीति आशङ्क्यन्त्या आर्यगौर-
वनियन्त्रितया^३ देव्या प्रियसखीपदे स्थापिता वर्तते^४ । इदानीं च
अतिप्रयत्नेन^५ गोपाय्यमानापि अर्त्तिकेतेन देवीसमीपमुपगच्छतः^६
महाराजस्य लोचनगोचरे पतिता । (पुब्बं क्खु कधिदं ज्जेव मए अज्ज-
स्स । इअं क्खु दंसणमत्तकेणज्जेव^७ महाराआअणुराअबन्धणं भविस्स-
दित्तिन्सासङ्कन्तिएवि अज्जगौरबणिअन्तिदाए देवीए^८ पिअसहिपदे
स्थापिता वदइ । दाणी च आदिपउत्तेण^९ गोबिज्जमाणावि अदकिदेण
देवीसमीवमुवगच्छत्तस्स^{१०} महाराअस्स^{११} लोअणगोअरे पडिदा ।)

मात्रकेणैव—दृष्टिपथमवतरन्त्येव, महाराजानुरागबन्धनं भविष्यति—स्वामिनः
प्रेम स्वस्याम् आधास्यति, इति, आशङ्क्यन्त्या—सन्दिहानया, आर्यगौरवनिय-
न्त्रितया—भवत्प्रतिष्ठाभिभूतया, देव्या—महाराज्ञ्या, (आत्मनः) प्रियसखीपदे,
स्थापिता, वर्तते । च—किन्तु इदानीम्—अधुना, अतिप्रयत्नेन—महता यत्नेन
गोपाय्यमानापि—निभृतं रक्ष्यमाणापि, (सा) अर्त्तिकेतेन—सहसा, देवीसमीपम्
उपगच्छतः महाराजस्य, लोचनगोचरे—दृष्टिपथे, पतिता—समागता ।

सुनन्दना—पहले ही वता चुकी हूँ कि आपके कुल-गौरव का ध्यान रख
कर महादेवी उसे अपनी सखी-पद पर प्रतिष्ठित कर पालन-पोषण कर रही
हैं । और महादेवी, इस शंका के कारण कि इसके दर्शनमात्र से ही महाराज
इसके प्रति आसक्त हो जायेंगे इसकी उपस्थिति अत्यन्त ही गोपनीय रखती
हैं । तथापि अचानक देवी के ही पास जाते हुए महाराज की दृष्टि उस पर पड़
ही तो गयी ।

१ आन्धस्य मू० पा० । २ दर्शनमात्रकेणापि मू० पा० । ३ आर्ये
गौरवनियन्त्रिया मू० पा० । ४ अत्र प्राकृते 'वट्टई' इति पाठः उचितः ।
५ प्रतिप्रयत्नेन मू० पा० भ्रष्टः । ६ उपगच्छता मू० पा० । ७ दंसमत्तकेण
मू० पा० । ८.....णिअन्तिदादेवीए मू० पा० ९ । अदिपडित्तेण मू० पा० ।
१० देवीसमीवमुवगच्छत्तस्स मू० पा० । महाराअस्स इति मू० पा० नास्ति ।

सुबुद्धिः—ततस्ततः ।

सुनन्दना—तत इयं मन्थरतरलतारकमहाराजमा^१ लोकयन्ती ससम्भ्रमं देवीपरिजनैर्दूरतो नीता । (तदोइअं^२ मन्थरतरलतारगं^३ महाराजं आलोकयन्ती^४ समम्भ्रमं देवीपरिअणेहि दूरतो णीदा ।)

सुबुद्धिः—ततस्ततः ।

सुनन्दना—ततः प्रभृति देवीभयात् बाह्यतिरोहितविकारोऽहर्निशं मदनानलभावितान्तरो^५ वर्तते महाराजः । (तदो पहुदि देवीभयादो बाहिजतिरोहिदबिआरो अहंणिसं मदणाणलभमिदन्तरो बद्धि महा-राओ ।)

ततः—तदनन्तरम्, मन्थरतरलतारकमहाराजम्—मन्थरा मन्दा निश्चलेति यावत् तथा तरला चंचला वा चाकचिक्यपूर्णा तारका अक्षणः कनीनिका यस्य तादृशं महाराजम्, आलोकयन्ती—पश्यन्ती, इयं—चन्द्रकला, देवीपरिजनैः—महाराज्याः दासीभिः, ससम्भ्रमं—हठात्, दूरतो नीता—ततो दूरस्थानं प्रापिता । ततः प्रभृति—तदारभ्य, महाराजः, देवीभयात्, बाह्यतिरोहितविकारः—बाह्ये बहिर्देशे तिरोहितः निगूढः विकारः कामविकारो यस्य

सुबुद्धि—तब क्या हुआ ?

सुनन्दना—तब चंचल और मंदिर नेत्रों से राजा की ओर देखती हुई उसको देवी की सेविकाओं ने शीघ्रतापूर्वक हटा दिया ।

सुबुद्धि—इसके बाद क्या हुआ ?

सुनन्दना—उस क्षण से महाराज अन्दर ही अन्दर रातदिन काम से पीड़ित होने लगे हैं, लेकिन महारानी के डर से यह विकार बाहर प्रकट नहीं होने देते ।

१.....मलोकयन्ती मू० पा० । २ इयं मू० पा० । ३ समम्भ्ररत-रलतारगं ४ आलोकयन्त । ५ मदनानलभ्रमितान्तरो इति पाठः समीचीनतरः ।

सुबुद्धिः—भद्रे ! तत् कथं महाराजस्य त्वरितमनया सङ्गमो भवति^१ ।

सुनन्दना—आर्य ! ममोपायेन समुत्पन्न एव । (अज्ज, मम उबायेण समुप्पण्णो ज्जेव ।)

सुबुद्धिः—कः पुनरुपायस्ते ?

सुनन्दना—आर्य ! महाराजनियोगेन चन्द्रकलामनुसतुं त्वरिता न शक्नोमि इह चिरं स्थातुम् । तत् पश्चात् कथयिष्यामि । (अज्ज महाराजणिओएणि चन्दअलं अणुसरिदुं तुबारिदा ण सक्कोमि इव इध चिरं ठादुं । ता पच्छा कहिस्स ।)

[इति निष्क्रान्ता]

तादृशः, अहर्निशं—राक्षिग्दिवं, मदनानलभावितान्तरः—मदनानलेन कामाग्निना भावितं सन्दीपितम् अन्तरं हृदयं यस्य तादृशः, वर्तते ।

भद्रे—कल्याणि ! महाराजस्य, अनया—चन्द्रकलया, त्वरितं—शीघ्रं, सङ्गमः—सम्मेलनं, भवति—भविष्यति । अत्र वर्तमानसामीप्ये भविष्यदर्थे लट् । महाराजनियोगेन—महाराजाज्ञया, चन्द्रकलाम्, अनुसतुं—अनुगन्तुम् त्वरिता—शैघ्र्येण युक्ता (अस्मि अतः) इह—अत्र, चिरं—बहुकालं यावत् स्थातुं न शक्नोमि । राज्यानुसन्धानाय—राज्यकार्यसम्पादनाय ।

सुबुद्धि—भद्रे ! तो महाराज का इसके साथ संगम शीघ्र कैसे हो ?

सुनन्दना—आर्य ! मेरे उपाय से सम्पन्न ही है ।

सुबुद्धि—अच्छा तो फिर तुम्हारा उपाय क्या है ?

सुनन्दना—आर्य ! महाराज ने मुझे चन्द्रकला के प्रति सावधान रहने का आदेश दिया है, इस कारण शीघ्रता में हूँ, अधिक देर तक रुक नहीं सकती । फिर बताऊँगी ।

(चली जाती है)

१ भवतु मू० पा० ।

सुबुद्धिः [विचिन्त्य] तदहमपीदानीं राज्यानुसन्धानाय गच्छामि ।
[इति निष्क्रान्तः]

विष्कम्भकः

[ततः प्रविशति मदनावस्थां नाटयन् राजा विदूषकश्च]
राजा—[सचिन्तम्]

सा दृष्टिर्नवनीर^१ नीरजमयी वृष्टि^२ स्तदप्याननं,
हेलामोहनमन्त्रयन्त्रजनिताकृष्टिर्जगच्चेतसः^३ ।

विष्कम्भकः—भूतानां भाविनां च कथांशानां निदर्शकः समाप्त इत्यर्थः ।
तल्लक्षणं यथा—'वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः । संक्षिप्तार्थस्तु
विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ॥ इति । तत्र चास्मिन् प्रबन्धे सङ्कीर्ण-
विष्कम्भकः । तस्यापि लक्षणं यथा साहित्यदर्पणे—मध्येन मध्यमाभ्यां वा
पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः । शुद्धः स्यात् सा तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥ तथा
चात्र सुनन्दनासुबुद्धिरूपाभ्यां नीचमध्यमपात्राभ्यां कल्पितत्वात् सङ्कीर्ण-विष्कम्भक
इति ज्ञेयः । नाटयन्—अभिनयन् । सचिन्तम्—चिन्तया सहितं यथा स्यात् तथा ।

सा, दृष्टिः—अवलोकनं, नवनीरनीरजमयी—स्वच्छजलसम्भूतकमलमयी
वृष्टिः—वर्षणं, तदपि, आननं—मुखं, जगच्चेतसः—जगतः जगन्निवासिना-
मित्यर्थः चेतसः चित्तस्य, हेलामोहनमन्त्रयन्त्रजनिताकृष्टिः—हेलया

सुबुद्धि—(सोचकर) तो मैं भी अब राज्य की देख-रेख करने चलूँ ।

(चला जाता है)

विष्कम्भक

[इसके बाद पीड़ित राजा और विदूषक का प्रवेश]

राजा—(सोचता हुआ) उसकी आँखों से प्रतीत होता था जैसे नवजल
में खिलते हुए कमलों की वीधार हो (जैसे निर्मल, स्वच्छ जल में कमल
खिल गये हों उनसे सुगन्धित जलबूदों की वृष्टि सुखदायक होती है,

१ अत्र 'नवनील' इति पाठो युक्तः । वृष्टि तदप्याननं मू० पा० ।

३ कृष्टिजगच्चेतसः मू० पा० ।

सा भ्रूवल्लि^१ रनङ्गशाङ्ग^२ धनुषो यष्टिस्तथास्यास्तनु-
लाविण्यामृतपूरपूरणमयी सृष्टिः^३ परा वेधसः ॥७

विदूषकः—कथं सुचिरोपस्थितं पश्यन्नपि मां न जानाति प्रियव-
यस्यः^४ । (कथं सुइरोबस्थितं पेक्खन्तोबि मंण जाणादि पिअवअस्सो ।)

राजा—पुनः सा दृष्टिः.....इत्यादि पठति) ।

विदूषकः—भो वयस्य ! कथमेवमननुभूतपूर्वमधीरत्वमाचरन्
मय्यपि गोपयसि चित्तगतम् ! (भो बअस्स^५ कथं एवं अणणुभूदपूब्बं

चेष्टया मोहनार्थं वशीकरणार्थं प्रयुक्तायां मन्त्रयन्त्राभ्यां जनिता उत्पादिता
आकृष्टिः आकर्षणं सा, भ्रूवल्लिः—भ्रूलता, अनङ्गशाङ्ग^२ धनुषः—अनङ्गस्य
कामस्य शाङ्ग^२स्यः शूङ्गनिर्मितस्य धनुषः चापस्य, यष्टिः—वंशः, तथा अस्याः
चन्द्रकलायाः, तनुः—शरीरं, लावण्यामृतपूरपूरणमयी—लावण्यं सौन्दर्यम् एव
अमृतं सुधा तस्य पूरःप्लावः तेन युक्तः पूरणः समुद्रः तन्मयी, वेधसः—ऋषुः
परा—उत्कृष्टा, सृष्टिः—रचना (वर्तते) । अत्र शाङ्ग^२लविश्रीडितं छन्दः ॥७

सुचिरोपस्थितं—दीर्घकालाद् विद्यमानं, मां—विदूषकं, पश्यन्नपि—
विलोकयन्नपि, प्रियवयस्यः—प्रियमित्रं, न जानाति । अननुभूतपूर्वं—पूर्वं

उसी प्रकार उसकी दृष्टि पड़ने के कारण सुख का अनुभव होता है) उसका
मुख अलौकिक सौन्दर्य से संसार को आकृष्ट करनेवाला, उसकी रस-क्रीडा
मानो मोहन-मन्त्र का यन्त्र है । उसकी भ्रूलता, मानो कामदेव के शाङ्ग^२धनुष
की यष्टि है और सम्पूर्ण शरीर जैसे सौन्दर्य रूपी अमृत से उफनता हुआ
समुद्र है । प्रतीत होता है, यह कन्या ब्रह्मा की सर्वश्रेष्ठ रचना है ॥७

विदूषक—क्या कारण है, मित्र ! कि इतनी देर से यहाँ उपस्थित देखते
हुए मुझे पहिचान नहीं रहे हो ?

राजा—(पुनः 'उसकी वही दृष्टि' इत्यादि कहता है ।)

विदूषक—मित्र ! हृदय की अधीरता मुझसे क्यों छिपा रहे हो ? ऐसी

१ वलि मू० पा० । २ शाङ्गों मू० पा० । ३ सृष्टिपरा मू० पा० । ४ प्रिय

प्रियवयस्यः मू० पा० । ५ अवस्स मू० पा० ।

अधीरता आअरन्तो मयिबि गोबेसि चित्तगदं ।)

राजा—(पुनस्तदेव-पठति) ।

विदूषकः—(उच्चैः] यद्यहं रहस्योद्भेदभाजनमपि न ते तदितो गच्छामि । (जइ अहं रहस्सभेदवाअणं पि ण दे ता इदो गच्छम्मि ।)

राजा—[विलोक्य] कथं समीप एव वर्तते मे प्रियवस्यो रसालकः ! सखे ! मया खलु न विदितोऽसि धरणीचिन्तापरवशेन ।

कदापि न अनुभवविषयीकृतम्, अधीरत्वम् अधीरताम् आचरन्—विदधत् मय्यपि, चित्तगतं—हृद्गतभावं, गोपयसि—निगूढयसि । रहस्योद्भेदभाजनं—शुभवातार्कथनपात्रम् । रसालकः—एतन्नामा विदूषकः । विशेषेण दूषयति स्वं परं वा इति विदूषकः वि+दूष्+णिच्+प्वुल् अक् । अस्य लक्षणमिदम्—‘वयस्यकश्चादुपदुः स एव च विदूषकः । अन्तः पुरचरो राज्ञां नर्मात्म्यः प्रकीर्तितः ॥’ इति सागरः । साहित्यदर्पणकारस्य मते—‘कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः । हास्यकरः कलहरतिविदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः ॥ स्वकर्म—मधुरभोजनम् । धरणीचिन्तापरवशेन—पृथ्वीपालनचिन्ताधीनतया ।

अधीरता इसके पूर्व तो कभी नहीं देखी गयी ।

(राजा—पुनः वही कहता है ।)

विदूषक—(उच्च स्वर से) यदि मैं रहस्य-भेद जानने योग्य भी नहीं हूँ तो मैं यहाँ से चला जाता हूँ ।

राजा—(देखकर) क्या मेरे प्रिय मित्र रसालक मेरे निकट ही उपस्थित हैं ? सखे ! राज्य की चिन्ताओं के कारण देख नहीं सका । (मन चिन्ताओं के कारण व्यग्र रहा इसी से ध्यान नहीं गया) ।

१ प्रियवयस्ये मू० पा० ।

विदूषकः—उत्पाटिताशेषकण्टकस्य राज्यपालननियुक्तधीसचिवस्य कलितरतिमात्रकौतूहलस्य न खलु ते धरणीचिन्ता किन्तु तरुणी-चिन्ता । (उद्वाडिदासेसकण्टकस्य रजुपालणणित्तधीसइवस्स कलिदरदिमेतकोद्दहलस्स ण व्खु दे धरणीचिन्ता किन्तु तरुणी-चिन्ता^१ ।)

राजा—[सभयम्] आः मिथ्यावादिन्^२ ! नीचैः शंस^३ ।
वसन्तलेखैकनिबद्धभावं परासु कान्तासु मनः कुतो मे^४ ।
प्रफुल्लमल्लीमधुलम्पटः किं मधुव्रतः काङ्क्षति^५ वल्लिमन्याम् ।=

उत्पाटिताशेषकण्टकस्य—उत्पाटितानि निर्मूलीकृतानि अशेषकण्टकानि निखिल-
शात्रवो येन तादृशस्य । राज्यपालननियुक्तधीसचिवस्य—राज्यरक्षायां नियुक्तो
बुद्धिमान् मन्त्री येन तादृशस्य, कलितरतिमात्रकौतूहलस्य—कलितं चिन्तितं
रतिमात्रस्य कामक्रीडाया एव कौतूहलं कौतुकं येन तादृशस्य, ते तरुणीचिन्ता
वर्तते, न खलु, धरणीचिन्ता । नीचैः शंस—मन्दस्वरेण वद ।

वसन्तलेखैकनिबद्धभावं—वसन्तलेखायां तदाख्ये नायिकाविशेषे एकं
केवलं निबद्धो भावोऽनुरागो येन तत्तादृशं, मे—मम, मनः—चित्तं, परासु
वसन्तलेखाभिन्नासु, कान्तासु—सुन्दरीषु, कुतः—कथं गच्छति ? अपितु
कथमपि नेत्यर्थः । तथाहि, प्रफुल्लमल्लीमधुलम्पटः—प्रफुल्लायाः

विदूषक—आपने अपने शत्रु रूपी कण्टकों को समूल नष्ट कर डाला है
शासन के लिए योग्य मंत्रियों को नियुक्त कर लिया है । आप रतिप्रिय रसिक
हैं, निश्चित ही आपको राज्य की नहीं, तरुणी की चिन्ता व्याकुल कर रही है ।

राजा—(भयभीत) अरे, असत्यवादी ! धीरे-धीरे ही बोलो । मेरा
हृदय तो वसन्तलेखा में अनुरक्त रहता है, अन्य रमणियों में कैसे (अनुरक्त
हो सकता है (कदापि नहीं) । खिली हुई चमेली के मधुरस में आवद्ध भौंरे)
क्या कभी किसी अन्य लता पर जाने की इच्छा करता है ? (कभी नहीं) ।=

१ तरुणी चिन्ता मू० पा० । २ मिथ्यावादिने मू० पा० । ३ नीचैः
सशनिचैः शंस मू० पा० । ४ अत्र न इति साहित्यदर्पणे । ५ काक्षति मू० पा० ।

विदूषकः—भो वयस्य ! सत्यं । यदा पुनर्मल्लिकापि ग्रीष्मकाल-परिणामेनापसरन् मधुरसा भवति^१, तदा घनकालसमागमेनाभि-स्फुरत्कदम्बवल्ली^२ सोऽप्यभिलषति । (भो वयस्स, सच्चं । जदा पुण मल्लिआवि गिह्वाआलपरिणामेण ओसरणन्त महुरसा भोदि तदा घणकालसमागमेण अहिप्फुरन्त^३ कदम्बवल्लि सोबि अहिलसदि ।)

राजा—सखे, तूष्णीको भव । अलमनेनालीकपरिहासेन ।

विदूषकः—[सरोषम्] भो वयस्य ! यदीदानीम् अहं रहस्यभेद-भाजनमपि न ते तत् इतो गच्छामि । (भो वयस्स, ज्जइदाणीं अहं रहस्सभेदभाअणं^४ पि ण दे^५ ता इदो गच्छम्मि^६ ।)

[इति गन्तुमुपक्रमते]

प्रस्फुटितायाः मल्ल्याः मल्लिकाकुसुमस्य मधुलम्पटो मधुपानलोभी, मधुव्रतः—
भ्रमरः, किम् अन्यां, वल्लिं लतां काङ्क्षति—कामयते ? अपि तु कथमपि
नेत्यर्थः । अत्र श्लोके प्रतिवस्तूपमाऽलङ्कारः तथा उपेन्द्रवज्राच्छन्दः । ८

यदा, मल्लिकापि, ग्रीष्मकालपरिणामेन—ग्रीष्मर्तोरवसानेन अपसरन्मधुरसा
अपसरन् विगलन् मधुरसो यस्याः तादृशी, भवति तदा, घनकालसमागमेन—
वर्षर्तोरगमनेन अभिस्फुरत्कदम्बवल्लीं—प्रस्फुटत्कदम्बलतां, सोऽपि—भ्रमरोऽपि,
अभिलषति—वाञ्छति । तूष्णीको भव—मौनमालम्बस्व । अलीकपरिहासेन—
मिथ्यापरिहासेन, अलं व्यर्थम् असाम्प्रतमित्यर्थः ।

विदूषकः—सत्य कह रहे हो मित्र ! किन्तु जब ग्रीष्मकाल बीतने पर
मल्लिका (चमेली) मधुरस से रहित हो जाती है तब वर्षा के साथ फूलने-
वाली कदम्बलता पर भी जाने की इच्छा वह भौरा करता है ।

राजा—सखे, चुप रहो । छोड़ो यह व्यर्थ का परिहास ।

विदूषक—(क्रोधित होकर) यदि मैं रहस्यभेद जानने योग्य भी नहीं हूँ
तो मैं जाता हूँ यहाँ से । (जाने लगता है)

१ मधुसा भवत मू० पा० । २ कदम्बवल्लि मू० पा० । ३ अहिप्फुरन्त मू०
पा० । ४ हरस्सुभेदभाअणं मू० पा० । ५ वे मू० पा० । ६ गच्छामि मू० पा० ।

राजा—[करे धृत्वा] सखे ! तिष्ठ तिष्ठ । तद् यथा देवी न जानाति, तथा त्वयाचरणीयम् ।

विदूषकः—यदा देवी जानाति तदा एवमेव^१ शपामि । (यदा देवी जाणादि तदा एवं ज्जेव सबामि ।)

[इति यज्ञोपवीतं स्पृशति^२]

राजा—सखे ! अद्य खलु देवीसमीपमुपगच्छता मयान्तः पुरे काऽपि कन्यका दृष्टा । इयं खलु—

तारुण्यस्य विलासः समधिकलावण्यसम्पदो हासः^३ ।

धरणितलस्याभरणं युवजनमनसो वशीकरणम् ।६

तारुण्यस्य—यौवनस्य, विलासः—प्रकाशः यौवनस्यातिशयप्रकाशस्थान-मित्यर्थः, समधिकलावण्यसम्पदः—समधिकायाः प्रचुरायाः लावण्यसम्पदः सौन्दर्यसम्पत्तेः, हासः—विकासः अतिशयविकासस्थानमित्यर्थः, धरणितलस्य—पृथ्वीतलस्य, आभरणम्—अतिशयेन अलङ्काररूपा, (तथा) युवजनमनसः—युवकानां चित्तस्य, वशीकरणम्—अतिशयवशीकरणहेतुः । अत्र दीप्तिर-लंकारः, आर्याच्छन्दः ।६

राजा—(हाथ से पकड़ते हुए) रुको मित्र ! रुको ऐसा करो कि देवी न जानने पायें ।

विदूषक—देवी नहीं जानने पायेंगी, इसके लिए मैं शपथ खाता हूँ ।

(कहकर यज्ञोपवीत छूता है)

राजा—सखे ! आज मैंने अन्तःपुर में देवी के पास जाती हुई एक कन्या को देखा है । यह (कन्या) निश्चय ही—

यौवन का विलास बिखेरते हुए सौन्दर्य की सम्पत्ति का हास, धरती-तल का आभूषण तथा युवकों के मन के लिए वशीकरण-मन्त्र-सी है ।६

१ एव मे मू० पा० । २ पृंशति मू० पा० । ३ समधिकसम्पदो हासः मू० पा० ।

विदूषकः—ततः किं तथा प्रतिपन्नम् ? (तदो किं ताए पड़िवण्णं ?)

राजा—अनन्तरं च—

मुहुः स्मेरापाङ्गं दरविगलिता^१ कुंचितपुटं
वितन्वाना दृष्टा परिमितनिमेषं मयि मनाक् ।

विदूषकः—राशीकृतानि मरुता नवखण्डकूट-
तुल्यप्रभाणि सहकारप्रसूनकानि ।
चित्तं हरन्ति गुडलड्डुकस्वच्छभावा-
क्रूरप्रभिन्नमुकुलाश्च अशोकगुच्छाः ॥१०
(रासिकिदाइं^२ मरुताणवखण्डकुड-
तुल्यपहावाइं सहआरप्पुसुणआइं
चित्तं हरन्ति गुडलड्डुअसच्छभावा-
कूरप्प भिन्नमउलाअ अशोअगुच्छा ॥१०)

ततः, तथा—कन्यकया, किं प्रतिपन्नम्—किं कृतम् ?

मुहुः—भूयो भूयः, दरविगलिताकुंचितपुटं—किञ्चित्स्फारितनयनं
स्मेरापाङ्गं—स्मितपूर्वकं नेत्रयोरन्तं, मयि, मनाक्—ईषत्, वितन्वाना—
विस्तारयन्ती, (सा) परिमितनिमेषं—क्षणं यावत्, दृष्टा—वलोकिता ।
मरुता—वायुना, राशीकृतानि—सञ्चितानि, नवखण्डकूटतुल्यप्रभाणि—

विदूषक—तव उसने क्या किया ?

राजा—और तब मैंने कुछ क्षणों तक देखा कि वह मेरी ही ओर अपने
अर्द्धनिमीलित नव-कटाक्षों से मुसकराती हुई देख-सी रही थी ।

विदूषक—नयी खाँड़ के ढेर की भाँति वायु के द्वारा गिराये गये आम के
बौरों का समूह और गुड़ के बने विमल लड्डू की तरह अशोक के फूलों के
ये गुच्छे, क्रूर वायु ने जिनके मुकुलों को प्रस्फुटित कर दिया है, अपने
दर्शनमात्र से चित्त को चुरा लेते हैं ॥१०

१ दरविलिता म० पा० । २ कदाई म० पा० स्वलितः । ३ वेखण्ड

म० पा० ।

[ततः प्रविशति^१ 'सखि ! पश्य पश्य' इति^२ नाटयन्ती चन्द्रकला सुनन्दना च] चन्द्रकला—[दीर्घं निःश्वस्य स्वगतम्] अपि नाम^३ एष महाराजः^४ पुनरपि मे लोचनपथा^५ लंकरणं भवेत् । [अलिणाम एसो महाराओ पुणोवि मे लोअणपथा अलंकरणं भवे ।

सुनन्दना—अद्य प्रियसखि ! (अदि पियसहिए !)

[इत्युभे माघवीलतायाः कुसुमावचयं नाटयतः ।]

विदूषकः—[अग्रतः अवलोक्य साश्चर्यम्] आश्चर्यं, कथमिह महीतले सुरकन्यका परिभ्रमति ! (अम्मो, कदं इध^६ महिदले

नवीनशर्कराराशिसमकान्तीनि, सहकारप्रसूनकानि—आम्रमञ्जर्यः, (तथा) गुडलड्डुकस्वच्छभावक्रूरप्रभिन्नमुकुलाः—गुडमोदकवत् स्वच्छ-भावेन तथा मादर्वेन प्रभिन्नानिप्रस्फुटितानिकुड्मलानिमुकुलानि येषां तथाभूताःअशोकगुच्छाः अशोकस्तवकाः, च चित्तं, हरन्ति—आकर्षन्ति । अत्र इन्द्रवज्राच्छन्दः । १०

नाटयन्ती—अभिनयन्ती । दीर्घं—दीर्घकालं यावत्, निःश्वस्य—श्वासमाकुष्य स्वगतम्—परैरश्रुततया मनस्येव केवलं चिन्त्यते यथा साहित्यदर्पणे—'अथावयं, खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम्' । स्वगतम् आत्मगतं च पर्यायौ । लोचनपथा-लंकरणम्—दृष्टिपथस्य शोभा दृष्टिगोचर इति यावत् । कुसुमावचयं—

[इसके पश्चात् 'सखि, देखो' कहती हुई चन्द्रकला, सुनन्दना प्रवेश करती हैं ।]

चन्द्रकला—(निःश्वास के साथ स्वयं) क्या यह सम्भव है कि महाराज पुनः मेरे दृष्टि-पथ को शोभित कर सकें ?

सुनन्दना—आज ही प्रियसखि ! [दोनों माघवीलता का पुष्प-चयन करने का नाट्य करती हैं ।]

विदूषक—(सामने देखकर आश्चर्य से) आश्चर्य है, क्या देवकन्या

१ अयं मू० पा० नास्ति । २ ईयं मू० पा० । ३ ना मू० पा० । ४ महाराज मू० पा० । ५ यथा मू० पा० । ६ इद मू० पा० ।

सुरकण्णआ^१ परिभ्रमदि ।)

राजा—अधो विन्यस्यन्ती मुखकमलमुद्भिन्नपुलकम् ।

क्वचिन्नीता बाला द्रुतमहह देवीपरिजनैः ॥११

विदूषकः—ततः किं तथा आचरितम् ? (तदो किं तये आचरिदम् ?)

राजा—सखे ! किमन्यत् ? अनया खलु वध्वा निजगुणसंघैर्भृशं समाकृष्टचेतसः प्रसभं हृदये दिवानिशं मे भवति मदनानलो ज्वालितः ।^२

पुष्पत्रोटनं, नाटयतः—अभिनयतः । महीतले-भूतले, सुरकन्यका-देवबाला परिभ्रमति—इतस्ततः सञ्चरति ।

उद्भिन्नपुलकं—रोमाञ्चितं, मुखकमलम्, अधः—नीचैः, विन्यस्यन्ती—कुर्वन्ती, बाला—सा कन्यका, अहह इति खेदे, द्रुतं—शीघ्रं, देवीपरिजनैः—महाराज्ञीपरिचारिकाभिः, क्वचित्—कुत्रचित् नीता—प्रापिता । अस्य श्लोकस्य पूर्वार्धः 'मुहः स्मेरापाङ्गम्' इत्यादि । अत्र शिखरिणीच्छन्दः । ११

वध्वा—स्त्रिया, निजगुणसंघैः—स्वकीयगुणसमूहैः, भृशम्—अत्यर्थं, समाकृष्ट-चेतसः—अपहृतचित्तस्य, मे—मम, हृदये, दिवानिशं—रात्रिन्दिवं, प्रसभं—बलात् मदनानलः—कामाग्निः, ज्वालितः—सन्दीपितः ।

पृथ्वी-तल पर घूम रही है ?

राजा—ओह ! पुलकायमान (रोमांचित) मुख-कमल को नीचे की ओर किए हुए वह वाला महारानी की परिचारिकाओं द्वारा कहीं दूर हटा दी गयी । ११

विदूषक—इसके बाद उसने क्या किया ?

राजा—सखे ! क्या कहूँ ? उस वाला ने तो अपने गुणों के द्वारा मेरे चित्त को इस भांति आकृष्ट कर लिया है कि मेरे हृदय में दिन-रात कामाग्नि जलती रहती है ।

१ सुरकण्णआ मू० पा० । २ सखे किमन्दत् ? अनया खलु वध्वा निजगुणसंघैर्भृशं समाकृष्टचेतसः प्रसभं हृदये दिवानिशं मे दोदि मदनानलोज्वालित मू० पा० ।

विदूषकः—आश्चर्यम्, तदविलम्बितं परिसृत्य दीर्घिकोद्धृतसलिल-
कुम्भेन निर्वाप्यतामेष वह्निः । (हीमाणहे, ता अबिलम्बितं पसिरिञ्च
दिहिआश्चिअ सलिलकुम्भेण णिब्बाबअदू एसो वह्निः ।)

राजा—[ईषद् विहस्य] सखे !

परिहाय सुधाधारां तामेव मृगलोचनाम् ।

याति^१ निर्वाणतामेष कथ्यतां कथमन्यथा ॥१२

विदूषकः—भो वयस्य ! तत् किम् ईदृशावस्थागतेनापि त्वया एता-
वन्तं कालं तूष्णीकेन वृत्यते ? अथ को वा चिन्तितस्तस्याः^२

तत्—तस्मात्, अविलम्बितं—शीघ्रं, परिसृत्य—गत्वा, दीर्घिकोद्धृतसलिल-
कुम्भेन वापीतः घटेन जलमुद्धृत्य, एषः, वह्निः—मदनानलः, निर्वाप्यताम्—
प्रशाम्यताम् ।

सुधाधाराम्—अमृतधारामिव, तामेव, मृगलोचनां—हरिणाक्षीं, परिहाय
त्यक्त्वा, अन्यथा—अन्यप्रकारेण, एषः—वह्निः, कथं निर्वाणतां—शान्तिं
याति—गच्छति, (इति कथ्यताम्—उच्यताम् ॥१२

ईदृशावस्थागतेनापि—इमां दशां प्राप्तेनापि, तूष्णीकेन—मौनिकेन, वृत्यते—
स्थीयते ।

विदूषक—बड़ा ही आश्चर्य है तब तो आप तुरन्त बिना विलम्ब किए
घड़ा लेकर जाइए और तालाब से जल लाकर इस अग्नि को शान्त कीजिए ।

राजा—(मुसकराकर) सखे !

यह अग्नि केवल अमृत की धारा के समान उसी मृगनयनी से शान्त हो
सकती है, अन्य किसी भी उपाय से असम्भव है ॥१२

विदूषक—अरे मित्र ! तो ऐसी दशा को प्राप्त हो जाने पर भी इतने
समय तक शान्त क्यों हैं ? अथवा उसकी प्राप्ति के लिए कोई उपाय
सोचा ?

१ यातु मू० पा० । २ चित्तस्पस्याः मू० पा० ।

सङ्गमोपायः ? (भो बअस्स, ता किं ईदिसा अवत्थागदेणावि तए^१ एत्तिकं कालं तुल्लिकेण वट्ठी ? अघ्णं गेवा चित्तदो तससङ्गमोबाओ ?)

राजा—सखे ! अनया बद्धसख्यया सुनन्दनया^३ कुसुमावचयव्याजादिदानीमेव लीलोपवनमानीता तत्रैव महाराजनयनपथातिथिभंवत्विति प्रतिताम्य । [सविस्मयम् अङ्गानि^४ निर्दिश्य] कथमत्र—
अब्जद्वन्द्वमहर्निशं विकसितं सौवर्णमत्राहितं,
रम्भास्तम्भयुगं ततश्च पुलिनं लावण्यवारिप्लुतम् ।

बद्धसख्या—बद्धं दृढमूलं सख्यं मैत्री यस्याः तादृश्या, कुसुमावचयव्याजात्-पुष्पचयनमिषात्, लीलोपवनं—श्रीडोद्यानं, महाराजनयनपथातिथिः—महाराजस्य दृष्टिगोचरीभवतु, इति प्रतिताम्य—विचार्यं । अङ्गानि नायिकाया इति शेषः ।

अहर्निशं—रात्रिन्दिवं, विकसितं, सौवर्णं—स्वर्णनिर्मितम्, अब्जद्वन्द्वं—कमलद्वयं (पादद्वयम्) अत्र—नायिकायाः शरीर इत्यर्थः आहितं—स्थितं (वर्तते), (तदुपरि) रम्भास्तम्भयुगं—कदलीस्तम्भद्वयं (जंघाद्वयं)

राजा—सखे ! इस समय उसकी सखी सुनन्दना पुष्प-चयन के बहाने उसे लीला-उपवन में इसी विचार से ले आयी है कि वही पर कदाचित् महाराज के नेत्रों की अतिथि यह हो जाय (महाराज का दर्शन हो जाय, अथवा महाराज इसे देख लें।) [विस्मय के साथ अंगों की ओर निर्देश करके] क्या यहाँ—

रात दिन एक तरह से विकसित रहनेवाले दो स्वर्ण-कमल (ललाई से भरे चरण) स्थित हैं। उनके ऊपर कदली के दो खम्भे (जाँघें) हैं। उसके बाद सौंदर्य के जल में डूबा हुआ (न दिखाई पड़ने वाला) पुलिन (कटि-तट)

१ ईदिसा अवत्थागदेणास्थितए मू० पा० । २ अनत्या मू० पा० ।

३ बद्धसख्यासुनन्दना मू० पा० । ४ सविस्मयविस्माङ्गानि मू० पा० ।

तस्मिन्नुन्मदकुम्भिकुम्भयुगलं रत्नैकलेखादृतं^१

राजत्यत्र पुनः कलङ्करहितः शीतद्युतेर्मण्डलः ॥१३

[विचिन्त्य] नूनमियमन्तर्निहितं^२ प्रमदनविकारा वर्तते, यतः—

हसति परितोषरहितं निरीक्ष्यमाणापि नेक्षते किमपि ।

सख्यामुदाहरन्त्या^३ मसमञ्जसमुत्तरं दत्ते ॥१४

ततश्च—तदुपरि च, लावण्यवारिप्लुतं—सौन्दर्यजलभरितं पुलिनं—(कटि-)

तटं, तस्मिन्—तदुपरि, उन्मदकुम्भिकुम्भयुगलं—मत्तगजस्य कुम्भद्वयम्

(इव कुचद्वन्द्वं), रत्नैकलेखादृतं—रत्नावल्या शोभितम्, अत्र पुनः

कलङ्करहितः—निष्कलङ्कः शीतद्युतेर्मण्डलः—चन्द्रमण्डलः (मुखं)

राजति—शोभते । अत्र शार्दूलविश्रीडितं छन्दः ॥१३

नूनं—निश्चितम्, इयं—नायिका, अन्तर्निहितप्रमदनविकारा—अन्तः

मनसि निहितः आहितः प्रमदनविकारः कामवेगो यया सा तादृशी वर्तते ।

परितोषरहितं—सन्तोषवर्जितं यथा स्यात् तथा, हसति, निरीक्ष्यमा-

णापि—अवलोक्यमानापि, किमपि नेक्षते—न पश्यति । सख्याम्—

आल्याम्, उदारहन्त्यां—यत्किञ्चिद् वदन्त्यां सत्याम्, असमञ्जसम्—अयुक्तम्

उत्तरं, दत्ते—ददाति ॥१४

हैं । उस सौन्दर्यजल के बीच मतवाले हाथी के मस्तक के उभड़े हुए दो

भाग (जैसे दो स्तन) रत्न (मोती) की एकावली माला से आभूषित हैं ।

और पुनः इनके ऊपर कलङ्करहित चन्द्रमण्डल (मुख) चाँदनी सरसा रहा है ॥१३

(सोचकर) निश्चित ही यह भी अन्दर ही अन्दर काम से पीड़ित है, क्योंकि

यह हँसती है, पर सन्तोषपूर्वक नहीं (खुलकर नहीं) वह कुछ देखती सी प्रतीत

होती है परन्तु देख कुछ भी नहीं रही है, उसकी सखी उससे जो कुछ कहती है,

उसका भी वह उचित उत्तर नहीं देती ॥१४

१ रत्नकलेशोहतं मू० पा० । २ अन्तर्निहितं मू० पा० । ३ सख्यामुदा-

हरन्त्याम् मू० पा० ।

विदूषकः—[चन्द्रकलां निर्दिश्य] भो वयस्य ! तदिदानीम् अमुया सुधाधारया निर्वापयतु ज्वलितं मदनानलम्^१ (भो वयस, तादार्णी ईमाए सुधाधाराए णीब्बाबिअदु^२ जलियो मदणाणलो ।)

राजा—सखे ! इदमेवोचितमिदानीम्^३ । तथापि क्षणमिहैव लतान्तरितौ रहस्यवृत्तिमालोकयावस्तावदेतस्याः ।

[इत्युभौ लतान्तराले^४ प्रविशतः]

चन्द्रकला—[दीर्घं निःश्वस्य स्वगतम्] हृदय हृदय तादृशदुर्लभार्थं विहितनिबन्धस्य^५ समुचिता ते ईदृशी अवस्था । (हिअअ, हिअअ, तादिसदुल्लहच्चविहिदणीवद्धसस^६ समुइदा दे ईरिसी अबध्या ।)

भो वयस्य—हे मित्र ! तत्, इदानीम्, अमुया—दृश्यमानया, सुधाधारया—अमृतधारया ज्वलितं—प्रदीप्तं, मदनानलं—कामाग्निं, निर्वापयतु—प्रशमयतु । लतान्तरितौ—लतामध्ये गुप्तं स्थित्वेत्यर्थः एतस्याः—वालायाः रहस्यवृत्ति—गुप्तचेष्टाम्, आलोकयावः—पश्यावः । लतान्तराले—लतामध्ये । तादृशदुर्लभार्थं विहितनिबन्धस्य—तादृशे दुर्लभार्थे दुष्प्राप्ये वस्तुनि विहितः कृतः निबन्धः दुराग्रहो येन तादृशस्य,

विदूषक—(चन्द्रकला की ओर संकेत कर.) हे मित्र ! तो अब इस अमृत-धारा से, जलती हुई कामाग्नि बुझाओ ।

राजा—इस समय उचित यही है मित्र ! फिर क्षणभर हम दोनों लता की ओट में रुककर तब तक इसकी गुप्त क्रियाओं को देखें ।

[इसके बाद दोनों लता की ओट में प्रवेश करते हैं]

चन्द्रकला—[दीर्घं निःश्वास छोड़कर स्वयं] हृदय ! दुष्प्राप्य की ओर अनुरक्त तुम्हारी दशा ऐसी ही होनी चाहिए ।

१ ज्वालितो मदनानलः मू० पा० । २ णीब्बाबिअदु मू० पा० । ३ इदं बोचितमिदानीं मू० पा० । ४ लतान्तरितौ मू० पा० । ५ निबन्धस्य मू० पा० । ६ सा हिअअ २ तादिसदुल्लहच्चविहिदणीवद्धस्य मू० पा० ।

सुनन्दना—सखि चन्द्रकले ! ^१ इदं खलु अत्र स्तोकोन्नतायां केशर-
लतायाः शाखायां^२ वर्तते रमणीयं कुसुमम् । तदिदानीम् उन्विनोतु
एतत् प्रियसखी । (हला चन्द्रकले इदं क्व एथ्य थोकउन्नदाए
केसरलदादाए साहाए वट्टदि रमणिज्जं कुसुमं । ता दाणीं उन्विणोदु^३
तं पिअसही ।)

राजा—[निशम्य] शृणु तावत् चन्द्रकलेति नामास्याः ।

विदूषकः—भो वयस्य ! त्वमपि^४ महीमहेश्वरः । (भो बअस्स^५
तुमपि महीमहेसरो ।)

राजा—ततः किम् ।

विदूषकः—तद्युक्तं खलु ते शिरसि निधानमेतस्याः । ताज्जुत्तं क्व
दे सिरसि णिघाणं एदाए ।)

स्तोकोन्नतायां—अल्पोच्छ्रितायां । महीमहेश्वरः—पृथिव्याः प्रभुः पक्षे महेश्वरः
शंकरः चन्द्रकला इन्दुकलेति बोध्यम् । एतस्याः—चन्द्रकलायाः, निधानं—रक्षणम् ।

सुनन्दना—सखि चन्द्रकले ! इसी थोड़ी-सी ऊँची केशरलता की शाखा पर
एक अत्यन्त सुन्दर पुष्प है । प्रिय सखी, तुम इसे तोड़ो ।

राजा—(सुनकर) मित्र ! सुनो, इसका नाम चन्द्रकला है ।

विदूषक—तुम भी मही (पृथ्वी) के महेश्वर (राजा) हो । (पृथ्वी के पक्ष
में राजा, चन्द्रकला के पक्ष में शंकर ।)

राजा—तो इससे क्या ?

विदूषक—निश्चय रूप के आपके सिर पर इसे प्रतिष्ठित होना उचित है ।
(आपके साथ इसका परिणय उपयुक्त होगा ।)

१ इदं सखी चन्द्रकले मू० पा० । केशरलतायां शाखायां मू० पा० ।
३ उन्विणोदु मू० पा० । ४ त्वमिति मू० पा० । ५ बस्स मू० पा० ।

राजा—[ईषद् विहस्य] सखे ! कथमीदृशो मादृशानां भाग्योदयः ।
[चन्द्रकला बाहुमुन्नमय्य उन्नतशाखागतकेशरकुसुमावचयं नाटयति]

राजा—[सस्पृहमालोक्य] सखे ! पश्य खल्विदानीं^१ -

दरप्रकाशे कुचकुम्भमूले द्रुतं निपत्य द्रुतकर्तुं राभे^२ ।

लावण्यपूरे विनिमग्नमुच्चैर्न मे^३ कदाचित् बहिरेति चेतः ॥१५

विदूषकः—तदविलम्बितं कैवर्तं प्रवेश्य उत्तोलयतु । (ताता-
बिलम्बितं कैवर्तं प्रवेशित उत्तोलयतु ।

उन्नमय्य—उत्थाप्य, उन्नतशाखागतकेशरकुसुमावचयम्—उन्नतासु शाखासु
स्थितानां केशरकुसुमानाम् अवचयं—छोटनं । सस्पृहम्—स्पृहया अभिलाषेण
सहितं यथा स्यात् तथा, आलोक्य—दृष्ट्वा ।

दरप्रकाशे—ईषद्दृश्यमाने, द्रुतकर्तुं राभे—द्रवीभूतस्वर्णस्य आभा कान्तिः इव
आभा यस्य तादृशे, लावण्यपूरे—सौन्दर्यप्रवाहे, कुचकुम्भमूले—घटाकार-
स्तनयोः मूलदेशे, उच्चैः—साधुतरं, विनिमग्नं—मग्नीभूतं, मे—मम, चेतः—मनः
कदाचित्, बहिः—न एति—प्राप्नोति । अत्र उपजातिच्छन्दः ॥१५

कैवर्तं—धीवरं, प्रवेश्य, (स्वं चित्तम्) उत्तोलयतु—ततो निष्कासयतु ।

राजा—(कुछ मुसकरा कर) मित्र! मुझ जैसे व्यक्ति का ऐसा भाग्य कहाँ है ?

[चन्द्रकला बाहुओं को उठाकर ऊपर उठी हुई केशरशाखा के पुष्प को तोड़ने का प्रयास करती है]

राजा—(लालच के साथ देखकर) मित्र ! देखो, इस समय—

इसके घट सदृश कुचों का मूल भाग जो कुछ-कुछ दिखाई दे रहा है, जिसकी
कान्ति पिघले हुए सुवर्ण की-सी है और जो मानों सौन्दर्य की धारा है । उसमें
बुरी तरह डूबा हुआ मेरा चित्त बाहर नहीं निकल रहा है ॥१५

विदूषक—विलम्ब न करें ! तुरन्त मल्लाह को भेजकर उसे ऊपर बाहर
निकलवाएँ ।

१ खल्विदानीं मू० पा० । २ कर्तुं राभे मू० पा० । ३ निमे मू० पा० ।

राजा—अहो सुबुद्धिता प्रियवयस्यस्य !^१

सुनन्दना—सखि ! पश्य पश्य, इयं खलु उन्मीलत्परिमलं सहकार-
पादपम् अचिरेणैव आलिङ्गिष्यति नवकुसुमिता बालमाधवीलता^२ ।
(हला पेक्ख, पेक्ख, इयं क्खु उन्मीलन्तपरिमलं सहआरपादवं
अइरेणज्जेव आलिङ्गिस्सदि णवकुसुमिदा बालमाहवीलदा^३ ।)

चन्द्रकला—[सविकारमिव पश्यति]

विदूषकः—भो वयस्य ! शृणु तावत्^४, साभिप्रायं खलु इदं वचनम् ।
(भो बयस्स, शुणु दाव साभिप्पाअं क्खु एदं वअणं ।)

राजा—न खलु सम्भावयामि मे पुण्यपरिपाकमीदृशम् ।

सुनन्दना—सखि ! अमुष्या नवमालिकाया मया उच्चीयन्ते कुसु-
मानि । त्वया पुनस्तस्या : माधवीलताया उच्चीयन्ताम् ।

सुबुद्धिता—सुबुद्धिमत्ता (इयं व्यंग्योक्तिरत्र) । नवकुसुमिता—नवपुष्पिता बालमाधवी-
लता । उन्मीलत्परिमलम्—विकिरत्सौरभं, सहकारपादम्—आम्रवृक्षम्, अचिरेणैव
—शीघ्रमेव, आलिङ्गिष्यति—परिष्वस्यते, साभिप्रायम्—तात्पर्यसहितम् ।
पुण्यपरिपाकं—सौभाग्यम्, कुसुमानि—पुष्पाणि, उच्चीयन्ते—त्रोट्यन्ते ।

राजा—मित्र ! तुम्हारी बुद्धि प्रशंसनीय है ।

सुनन्दना—सखि ! देखो, देखो, नवपुष्पित बाल माधवी लता शीघ्र ही
सौरभित आम्रवृक्ष का आलिगन करने वाली है ।

चन्द्रकला—(आकुल, उन्मादित हृदय से देखने लगती है)

विदूषक—मित्र ! अब यह अभिप्राय युक्त वार्तालाप सुनो ।

राजा—मित्र ! अपने पुण्यकर्मों से ऐसी आशा नहीं करता (हमारे पुण्य-
कर्म ऐसे नहीं हैं) ।

सुनन्दना—सखि ! इस नवमल्लिका के पुष्पों को मैं तोड़ रही हूँ । तुम
उस माधवीलता के फूलों को तोड़ो ।

१ प्रियवयस्यस्य मू० पा० । २ अत्र बालइति मू० पा० नास्ति ।

३ बालमादीलदा मू० पा० । ४ शृणु तावत् शृणु तावत् मू० पा० ।

(हला, इमाङ्गणोमालिआए मए^१ उच्चिणिअन्ते^२ कुसुमाइं । तस पुणताए माहबीलदाए उच्चिणीअन्तु ।)

[इति राजालङ्कृतां माधवीलतामङ्गुल्या निर्दिशति]
चन्द्रकला— यद्रोचते प्रियसख्यै । (यं रोअदि पियसहिए ।)

[इति गच्छति]

[राजानमवलोक्य सचकितव्रीडं मुखं^३ नमयन्ती स्तम्भमभिनीय सानन्दं स्वगतम्] आश्चर्यं कथं फलितोऽपि मे अमनोवृत्तिसम्भावनीयो मनोरथद्रुमः । (अम्महे, कथं फलिदोवि मे अमणवृत्तिसभावणिजो^४ मणोरथद्रुमो ।)

राजा— [सहर्षमुपसृत्य] प्रिये ! [आत्मानं निर्दिश्य] प्रिये !
कथय, कथय—

अङ्गानि खेदयसि किं शिरीषकुसुमपरिपेलवानि^५ मुघा ।

राजालङ्कृतां—यत्रान्तरितो राजा विराजमानः आसीत् ताम् । सचकितव्रीडम्—आश्चर्यलज्जाभ्यां सहितम् । स्तम्भं—निश्चलताम्, अभिनीय—नाटयित्वा ।

[इस प्रकार कहती हुई, राजा से शोभित माधवीलता की ओर अँगुलियों से निर्देश करती है ।]

चन्द्रकला—जो मेरी सखी को अच्छा लगे । (जाती है)

[राजा को देख कर आश्चर्य और लज्जा से सिर नीचे किए हुए स्तम्भित (शिथिल) हो जाती है । फिर सहर्ष और स्वयं] ओह ! क्या मेरा मनोरथवृक्ष फलित हो गया ? मैंने तो ऐसी कभी सम्भावना भी नहीं की थी ।

राजा—(सहर्षं समीप पहुँचकर) प्रिये ! कहो-कहो—

शिरीष पुष्प से कोमल अपने इन अंगों को यह व्यर्थ में क्लेश

१ मए इति मू० पा० नास्ति । २ चिच्चिणीअन्त मू० पा० । अत्र 'मुखं' इति मू० पा० नास्ति । ४ अमणवृत्तिसम्भावण तजा मू० पा० । ५ शिरीषपरिपेलवानि मू० पा० ।

अयमाहितकुसुमानां सम्पादयिता तवास्ति दासजनः^१ ॥१६
 सुनन्दना—[जनान्तिकम्] सखि ! कथं त्वया दर्शनमात्रकेणापि
 एवं वशीकृतो भर्ता । (हला, कथं तए दंसणमेत्तकेणावि एवं बसि-
 किदो भट्टा ।)

चन्द्रकला—सखि ! किमिति त्वया वितथपरिहासेन अहमुपहस्ये ।
 (हला, किं तए भिदधपरिहासेण अहं उबहसीअदि ।)

राजा—[चन्द्रकलाया मुखं निर्दिश्य !] प्रिये ! कथय कथय
 असावन्तश्चञ्चद्विकचनवनीलाब्जयुगल-
 स्तलस्फूर्जत्कम्बुर्विलसदलिसंधात उपरि ।

शिरीषकुसुमपरिपेलवानि—शिरीषपुष्पवत् सर्वथा सुकुमाराणि अङ्गानि—
 अवयवानि, कि—कस्मात्, मुग्धा—अनर्थकं, खेदयसि—पुष्पचयनेन—परिश्रम
 यसि ? अयम्—अहं, दासजनः, तव ईहितकुसुमानां—चेतुमिष्टानां पुष्पाणां
 सम्पादयिता—चयनकर्ता अस्ति । अत्र संक्षेपालङ्कारः उपगीतिच्छन्दः १९६

जनान्तिकम्—एकान्ते अन्यान् वञ्चयित्वा परस्परालापाः । यदुक्तं
 सागरे.....'वञ्चयित्वैकमन्योन्यं द्वाभ्यां यत्खलु पठ्यते । जनान्तिकं तु तत्कार्यं
 त्रिपताकेन पाणिना ॥' वितथपरिहासेन—अलीकपरिहासेन । अहम् उपहस्ये—
 मम उपहासं करोषीत्यर्थः ।

सुमुखि शोभनानने ! अन्तश्चञ्चद्विकचनवनीलाब्जयुगलः—

क्यों दे रही हो ? (स्वयं को दिखाकर) तुम्हारे इच्छित (रुचि के) पुष्पों के
 तोड़ने के लिए तो तुम्हारा यह सेवक उपस्थित है १९६

सुनन्दना—(एकान्त में) सखि ! केवल दर्शनमात्र से तुमने महाराज को
 अपने वंश में कैसे कर लिया ?

चन्द्रकला—सखि, तुम व्यर्थ मेरा उपहास क्यों कर रही हो ?

राजा—(चन्द्रकला के मुख की ओर देख कर) प्रिये ! कहो-कहो—हे
 सुमुखि ! यह लोकोत्तर निष्कलङ्क चन्द्रमा तुम्हें कहाँ से प्राप्त हो गया ?

१ साहित्यदर्पणे श्लोकस्य उत्तरार्धात् पूर्वम् 'आत्मानं निर्दिश्य' इति पाठः ।
 CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विना दोषासङ्गं सततपरिपूर्णाखिलकलः^१

कुतः प्राप्तश्चन्द्रो विगतिकलङ्कः सुमुखि ! ते ॥१७

चन्द्रकला-सखि ! आगच्छ, आगच्छ । इत^२ इदानीं गच्छावः । देवी खलु आवामनुसरिष्यति । आश्चर्यं, कुतो गच्छन्त्या मम चरणौ न गच्छतः । (हला, आअच्छ आअच्छ । इदो दाणीं गच्छम्बः । देवी क्व अम्भे अणुसरिस्सदि ।) [इति गच्छन्ती स्तम्भमभिनीय] अब्बो, कुदो गच्छन्ति ए मए^३ चरणा ण गच्छदि ।

अन्तर्मध्यभागे चञ्चद विलसत् विकचं प्रस्फुटं नवं नूतनं लीलावजयुगलं नयन-
द्वयरूपं यस्य तादृशः, तलस्फूर्जत्कम्बुः—तले अधोदेशे स्फूर्जन् शोभमानः कम्बुः
ग्रीवारूपः शङ्खः यस्यः तादृशः उपरि—उपरिभागे, विलसदलिसंघातः—
विलसन् विचरन् अलिसंघातो भ्रमरसमूहो यस्य तादृशः, सततपरिपूर्णा-
खिलकलः—सततं परिपूर्णा अखिला कला यस्य तादृशः, (तथा) विगलित-
कलङ्कः—कलङ्कशून्यः, असी मुखरूपश्चन्द्रः, दोषासङ्गं—रात्रिसम्पर्कं,
विनापि, ते—तव समीपे कुतः प्राप्तः—उपस्थितः ? अत्र उपमाऽलङ्कारः,
शिखरिणीच्छन्दः । १७

अनुसरिष्यति—पश्चादागमिष्यति । चरणौ न गच्छतः—पादौ न चलतः ।

जिसमें दो विकसित नील कमल शोभित हो रहे हैं । चन्द्रमा के तल भाग में शंख अपनी छवि बिखेर रहा है और ऊपर भ्रमरावलि क्रीड़ा कर रही है । तथा जो विना रात्रि के ही समस्त कलाओं से पूर्ण होकर उदित हुआ है । १७ (कवि ने चन्द्रकला के मुख की समानता निष्कलंक चन्द्रमा से, नेत्रों की नील कमल से ग्रीवा की शंख से, और केशों की नेत्र-कमल पर बिखरे भ्रमरावलि से दी है ।)

चन्द्रकला—सखि ! आओ, आओ हम दोनों भी इस स्थान से चलें । महारानी हमारा अनुगमन करेंगी (हम दोनों की खोज करायेंगी) ऐसा कहकर चलती है और स्तम्भित होने का वहाना करने लगती है] बड़ा आश्चर्य है जब चलना चाहती हैं तो हमारे पैर बढ़ते नहीं ।

कलः मू० पा० । २ इति मू० पा० । ३ मन्तए मू० पा० ।

सुनन्दना—[जनान्तिकम्] हला, यतः चित्तं न गच्छति^१ ।
(हला, जदो चित्तं ण गच्छदि ।)

चन्द्रकला—[सस्मितम्] सखि ! सर्वथान विरमसि परिहासतः^२ ।
(हला सब्बधा ण विरमसि परिहासादो ।)

सुनन्दना—सखि ! प्रथमतोऽपि त्वया पाशककेलौ तव स्वहस्तोच्चे-
तव्या^३ सहकारपल्लवाः मह्यं धार्यन्ते^४, तदुच्चीयन्तामेते पश्चात्पु-
नर्यथासुखं गच्छतु प्रियसखी^५ ! (हला, पतमदोबि^६ तए पासेअके-
लिए तुहि सहहथचिणिदब्बा सहआरपल्लवा मे धारीअन्ति । ता
उच्चणेदु एदे । पुच्छा पुण जघासुहं गच्छदु पिअसहि ।)

[चन्द्रकला तथा करोति]

राजा—[सस्पृहमालोक्य]

सस्मितम्—ईषद्वास्ययुक्तं यथा स्यात् तथा । न विरमसि—न विरता भवसि ।
पाशककेलौ—अक्षक्रीडायां, त्वया स्वहस्तोच्चेतव्याः—निजहस्ताभ्यां प्रोटनीयाः
सहकारपल्लवाः—आम्रपल्लवाः मह्यं धार्यन्ते । अयं भावः ग्लहे त्वं मया जिता
असि अतएव यान् सहकारपल्लवान् त्वं मह्यं धारयसि तान् उच्चीय पूर्वं देहि
ततो यथेच्छं याहि । 'अत्र धारेस्तमणः' इति सूत्रेण चतुर्थी ।

सुनन्दना—(एकान्त में) इसलिए कि चित्त यहाँ से नहीं हटता ।

चन्द्रकला—(मुसकरा कर) तुम परिहास करना नहीं छोड़ती हो ।

सुनन्दना—सखि ! तुम्हारे ऊपर जो हमारे आम्रपल्लव तोड़ने शेष हैं
(जो तुम हमारे आम्रपल्लव तोड़ना धारण करती हो) पहले अपने हाथों
से उन्हें तोड़कर मेरा ऋण चुका दो (मुझसे निवृत्त हो लो), हे प्रिय सखी !
उसके पश्चात् अपनी इच्छानुसार आनन्दपूर्वक जहाँ चाहो जाओ ।

(चन्द्रकला पल्लव तोड़ने लगती है)

राजा—[अनुराग से देखकर]

१ अयं मू० पा० नास्ति । २ अयमपि मू० पा० नास्ति । ३ स्वहस्तो
चेतव्याः मू० पा० । ४ मयायते मू० पा० । ५ तदुच्चीयतामेते मू० पा० ।

६ प्रीयसखी मू० पा० ।

चूतपल्लवचयं निजकान्त्या खण्डितं प्रथममेव मृगाक्षि !
 यत्करः कररुहेण पुनस्ते खण्डयत्यनुचितं परमेतत् ॥ १८
 चन्द्रकला—[पुलकस्वेदमभिनीय सखीं प्रति] सखि ! गृहाणेदम् ।
 अहं गच्छामि । (सहि गेष्टणा एदं । अहं गच्छम्मि ।)

[इति गन्तुमुपक्रमते]

विदूषकः—भवति ! सकलानां पृथिवीसमुत्पन्नानां षडंशभागिनो
 राजानो भवन्ति । तस्मात् कथं त्वम् उच्चितकुसुमपल्लवानां षष्ठांशं
 प्रियवयस्यस्यादत्त्वा गन्तुमभिलषसि ? (भोदि, सअलाणं पुहबिसं-
 पण्णाणं सट्टंसभाइणो राआणो होअन्ति । ता कधं तुमं उच्चिणिदकु-
 सुमपल्लवाणां सट्टांसं पिअबअस्सस्स उदाउण गन्तुं अहिलससि ?)

हे मृगाक्षि—मृगलोचने ! यत् ते करः—हस्तः प्रथममेव—
 पूर्वमेव, निजकान्त्या—स्वद्युत्या, खण्डितं—पराजितं, चूतपल्लवचयम्—
 आम्रपल्लवसमूहं, पुनः—भूयः, कररुहेण—नखेन, खण्डयति—छिनत्ति, एतत्,
 परम् अनुचितम् । अत्र स्वागताच्छन्दः ॥ १८

पुलकस्वेदम्—आनन्देन रोमाञ्चम् भयेन च घर्मम् । पृथ्वीसमुत्पन्नानां—
 पृथिव्याम् उत्पन्नानि यानि वस्तूनि तेषां षडंशभागिनः—षष्ठांशप्रहीतारः ।
 उच्चितकुसुमपल्लवानाम्—त्रोटितानां पुष्पाणां पल्लवानां च ।

हे मृगाक्षि ! ये आम्रपल्लव तो पहले ही एक बार तुम्हारे हाथों की मृदुल
 सुन्दरता से पराजित हो चुके हैं उन्हें अब पुनः नाखूनों से काटना अत्यन्त
 अनुचित है ॥ १८ (चन्द्रकला के हाथ और अंगुलियाँ पल्लवों से भी
 अधिक कोमल और सुन्दर हैं

चन्द्रकला—(आनन्दानुभव करती हुई) सखि ! ये लो । मैं जाती
 हूँ । जाने लगती है)

विदूषक— भगवती ! राजा, पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाली प्रत्येक वस्तु के
 षष्ठांश का भागी होता है । फिर तुम तोड़े गये पुष्प और पल्लवों का षष्ठांश
 मेरे प्रिय मित्र (राजा) को दिए बिना ही क्यों जाना चाहती हो ?

सुनन्दना—सत्यं भणत्यार्यः । ददस्वेदानीं भर्तुर्हस्ते उच्चितकुसुम
पल्लवानां षष्ठांशम् । (सच्चं भणादि अज्जो । ददसु दाणीं भट्टीणो
हृथ्ये उचिणिदकुसुमपल्लवाणां सट्टांसं ।)

[चन्द्रकला सत्रीडमधोमुखी तिष्ठति]

सुनन्दना—सखि ! सर्वतः राज्ञां षडंशोऽपि युज्यते व्यवहार एव
एषः । तत् कुतोऽत्रापि ते लज्जा^१ । (हला, सब्बदो राआणं सट्टंसोबि^२
जुजित्ति^३ व्यबहारोज्जेब एसो । कुदो एत्थ बि दे लज्जा ।)

चन्द्रकला—यद्रोचते प्रियसख्ये । (यं रोअदि पिअसहिए ।)

[इति सर्वैलक्ष्यं हृदयांशुकावगुण्ठितान् कुसुमपल्लवान् ददाति]

राजा—उपनयतु मे सुकृतपादपस्य परिणतं फलमिदं प्रेयसि ! ।

आर्यः—विदूषकः, सत्यं—यथार्थं, भणति—कथयति । सत्रीडम्—त्रीडया
लज्जया सहितं यथा स्यात् तथा । अधोमुखी नतानना । व्यवहारः—रीतिः
नियमो वा । अत्रापि—अस्मिन् विषये अवसरेऽपि वा । रोचते—प्रीतिकरं
भवति । प्रियसख्ये इत्यत्र रुच्यर्थानां प्रीयमाणः इति सूत्रेण चतुर्थी ।
सर्वैलक्ष्यं—लज्जया सहितं, हृदयांशुकावगुण्ठितान्—अञ्चले रक्षितान् ।
प्रेयसि—परमप्रिये !, सुकृतपादपस्य—पुष्पवृक्षस्य, परिणतं फलं—सुपक्वं
फलम्, उपनयतु—उपहरतु ।

सुनन्दना—उचित ही कह रहे हैं आर्य । तोड़े गये पुष्प और पल्लवों का
षष्ठांश महाराज के हाथ में दो । [चन्द्रकला लज्जा से मुख नीचे कर लेती है]

सुनन्दना—सखि ! सर्वत्र, षष्ठांश पर राजा का अधिकार है और यह
एक रीति भी है । तब तुम यहाँ लज्जा क्यों कर रही हो ?

चन्द्रकला—जो प्रिय सखी को अच्छा लगे ।

[कहती हुई वह हृदय पर आवेष्टित वस्त्र (आंचल) में रखे हुए पुष्प और
पल्लवों को दे देती है]

राजा—मेरे सुकर्म वृक्ष के पक्व इस फल को प्रदान करो प्रिये !

[इति करौ प्रसारयति]

चन्द्रकला—[कम्पमभिनयति^१ । कुसुमपल्लवा भूमौ पतन्ति ।]

राजा—[ससम्भ्रमम्] सर्वथा अनुपेक्षणीयो महाप्रसादः^२
प्रियतमायाः ।

[इति भूमौ पतितान्^३ कुसुमपल्लवानाददाति]

विदूषकः—भो वयस्य ! न खलु एषः पल्लवः । मूर्तिमान् खलु ते
प्रियतमाया अनुरागः । तदिदानीं हृदये गृहाणेदम् । (भो वयस्स,^४
ण वखु एसो पल्लवो मूर्तिमन्तो वखुदो पिअदमाए अणुराअं^५ ।
तादाणीं हिअर गेळ्ळएदं ।)

राजा—सत्यमाह प्रियवयस्यः ।

[इति हृदये विदधाति]

विदूषकः—[पुरोऽवलोक्य] अहो, का गतिः । कथमिहेदानीं

ससम्भ्रमम्—अधीरतापूर्वकं झटिति यथा स्यात् तथा । प्रियतमायाः—
प्रेयस्याः महाप्रसादः—महती प्रसन्नता कृपा वा । सर्वथा अनुपेक्षणीयः—
कदापि उपेक्षां कर्तुं न योग्यः । आददाति—गृह्णाति । मूर्तिमान्—
शरीरधारी, अनुरागः—प्रेम । विदधाति—करोति ।

[दोनों होथों को फैलाता है]

चन्द्रकला—(कांपने का बहाना करती है—पुष्प और सुकोमल पल्लव
पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं)

राजा—(शीघ्रतापूर्वक) प्रियतमा के इस महाप्रसाद की उपेक्षा नहीं
करनी चाहिए । (कहता हुआ भूमि पर गिरे पुष्प और सुकोमल पल्लवों को
उठा लेता है)

विदूषक—मित्र ! यह केवल पल्लव नहीं, निश्चित ही तुम्हारी प्रियतमा
का अनुराग मूर्तिमान् हो गया है । इसे हृदय से लगा लो ।

राजा—सत्य कह रहे हो मित्र ! (ऐसा कहकर हृदय से लगाता है)

विदूषक—(सामने देखकर) अहो ! अब क्या उपाय है ? यहाँ तो

१ कम्पमभिनयी मू० पा० । २ महाप्रसादं मू० पा० । ३ पतनान् मू०
पा० । ४ अस्स मू० पा० । ५ अरां मू० पा० ।

प्रियवयस्यस्य चन्द्रकलया सह रतिकलासु उर्ध्वघितासु अप्रसन्ना
 अन्यस्थानसन्निवेशमसहमानापि^१ आत्मानं गोपयित्वा देवीसहचारिणी
 रतिकला पुरतो दृश्यते । (अब्बो, का गदि । कधं इधदाणीं पिअव-
 अस्सस्स^२ चन्दअलाए सह रदिअलासु उब्बाढिदासु अप्पसण्णा^३
 अण्णट्टाण^४ सण्णिबेसं असहमानाबि अन्ताणं गोवयितुअ देवी^५ सह-
 आरिणी रदिअला पुरो दिसदि ।)

सुनन्दना—[विलोक्य] सखि चन्द्रकले ! त्वरितम् एह्येहि इयं
 खलु देवीसहचारिणी रतिकला इह आगच्छति । तदिह माघवी-
 लतान्तरे गोपिते भवावः । [हला चन्दोअले, तुरिदं एहि एहि । ईअं
 क्खु देवीसहआरिणी^६ रदिअला ईध आगच्छदि । ता ईध माघवी-
 लदन्तरे गोबिदे होम्हः ।)

चन्द्रकला—[सोद्वेगम्] त्वरितमेतु^७ प्रियसखि ? [तुरिदं एतु पिअ-
 सहि ।]

रतिकलासु—रतिप्रेमसु, उर्ध्वघितासु—वृद्धि गतासु, अप्रसन्ना—खिन्ना, अन्यस्थान-
 सन्निवेशम्—अन्यत्र अवस्थितिम्, असहमाना—अक्षममाणा, देवीसहचारिणी—
 देवीसेविका, रतिकला—एतन्नाम्नी, आत्मानं—स्वं, गोपयित्वा अन्तरितं
 कृत्वा पुरतः—अग्रे, दृश्यते—अवलोक्यते । त्वरितं—शीघ्रम्, एह्येहि—
 अन्नागच्छ । माघवीलतान्तरे माघवीलताया मध्ये, गोपिते—प्रच्छन्ने ।

महारानी की सेविका रतिकला छिपी हुई दिखायी पड़ रही है । यह,
 चन्द्रकलाके प्रति बढ़ते हुए राजा के अनुराग को देखकर उससे अप्रसन्न रहती
 है और उसके लिए यह असह्य है कि राजा महारानी से दूर और कहीं रहें ।

सुनन्दना—(रतिकला को देखकर) सखी चन्द्रकला ! शीघ्रता करो
 आओ हम दोनों माघवीलता के पीछे छिप जायें । क्योंकि महादेवी की
 सहचारिणी सखी रतिकला इधर आ रही है ।

चन्द्रकला—(उतावली के साथ) प्रियसखी ! शीघ्र आओ ।

- १ अन्यथानसन्निवेशमसहमपि मू० पा० । २ पिअवस्सस्स मू० पा० ।
 ३ अप्पसण्णा मू० पा० । ४ अण्णट्टाण मू० पा० । ५ देवी मू० पा० ।
 ६ देवीसहआरिणी मू० पा० । ७ त्वरितमेतत्त मू० पा० ।

[इत्युभे माघवीलतान्तरं प्रवेशं नाटयतः]

[ततः प्रविशति रतिकला]

रतिकला—कुत्र पुनः प्रेक्षे महाराजम् [परिक्रम्यावलोक्य च]
 कथमिहैव एषः । तदुपसर्पामि । [इत्युपसृत्य] जयतु जयतु महा-
 राजः । देवी खलु एतावन्तं कालं महाराजप्रवृत्तिमलभमाना
 सर्वतः प्रेषितसमस्तपरिजना पर्युत्सुका वर्तते । तदिदानीं त्वरितं
 महाराजेन तस्याः सन्निहितेन भवितव्यम् । (कहिं उण पेक्खामि
 महाराजं । कधं इध ज्जेव एसो । ता उवसप्पामि । जअदु जअदु
 महाराओ । देवी क्खु एत्तिकं कालं महाराअपउत्तिमलभमाणा
 सब्बदो पेसिदसमथ्यपरिअणा नाज्जुछुआ बद्धि । तादाणि तुरिदं
 महाराएण तस्स सणीहिदेण होदब्बम् ।

राजा - [दीर्घं निःश्वस्य स्वगतम्] हा दैव ! किमत्र करणीयम् ?

प्रेक्षे—पश्यामि । परिक्रम्य—विपरीतदिशां गत्वा । उपसर्पामि—समीपं
 गच्छामि । महाराजप्रवृत्तिम्,—महाराजस्य समाचारम्, अलभमाना—
 अप्राप्नुवन्ती, सर्वतः—सर्वदिक्षु, प्रेषितसमस्तपरिजना—प्रेषिताः अन्वेषणार्थं
 प्रेरिताः समस्ताः सकलाः परिजनाः भृत्यादयो यया तादृशी, (श्रुत्वा)
 पर्युत्सुका—उत्कण्ठिता, वर्तते । त्वरितं—शीघ्रं, महाराजेन, तस्याः—देव्याः
 सन्निहितेन—समीपवर्तिना, भवितव्यम् ।

[दोनों माघवीलता की ओट में प्रवेश करती हैं]

[इसके बाद रतिकला का प्रवेश]

रतिकला—महाराज पुनः कहाँ दिखायी पड़ेंगे ? [घूमकर देखती हुई]
 क्या यही हैं ? तो उनके निकट चलूँ । [पहुँचकर] महाराज की जय हो,
 जय हो । देवी इतनी देरी से आपको न देखने के कारण अत्यन्त ही व्याकुल
 हो रही हैं । उन्होंने चारों ओर सेवक-सेविकाओं को आपकी खोज में भेज
 दिया । इसलिए महाराज को शीघ्र ही उनके पास पहुँच जाना चाहिए
 (आप तुरन्त उनकी ओर चलें) ।

राजा - [लम्बी साँस खींचकर—स्वयं] हा दैव ! अब क्या करें ।

विदूषकः—[अपवार्य] भो वयस्य ! इदानीं खलु देवीसमाग—
मनमेवोचितम् । पश्चात् पुनर्यथा चन्द्रकलासमागमो भवति तथा
चिन्तितव्यम् । अन्यथा आयतिशुद्धो न भवत्येषः ।

राजा—(स्वगतम्) सत्यं सत्यम् अवितथमाह प्रियवयस्यः । [प्रकाशम्]
रतिकले ! मया खलु नवकुसुमितामिमां माधवीलतामाकर्ण्यपरि-
मितविस्मयाविष्टेन त्वरितमिह प्रविष्टं केलिवनम् ।

रतिकला—देव्याः खलु एतावन्तं कालं महाराजमनवेक्षमाणायाः
क्षणोऽपि युगान्तरमाचरति । (देवीए क्खु एन्तकं कालं महाराज-
मणबेक्खमाणाए खणोवि जुअन्तरं आअरदि ।)

राजा—तद्दर्शय पन्थानं देवीसमीपगमनाय ।

अपवार्य—जनान्तिकम् । देवीसमागमनम्—देव्या सह समागमः । आयतिशुद्धः
परिणामे हितकरः । अवितथम्—युक्तम् । आकर्ण्य—श्रुत्वा, अपरिमित
विस्मयाविष्टेन—अपरिमितेन अत्यधिकेन विस्मयेन आश्चर्येण आविष्टेन
युक्तेन, केलिवनं—क्रीडोपवनम् । अनवेक्षमाणायाः—अनवलोकयन्त्याः
युगान्तरमाचरति—युगावधिकाल इव प्रतिभाति ।

विदूषक—मित्र ! इस समय महादेवी के पास ही जाना उचित है ।
उसके बाद पुनः चन्द्रकला का समागम कैसे हो, सोचा जायेगा । अन्यथा उसका
परिणाम भयानक (अहितकर) होगा ।

राजा—(स्वयम्) सत्य, सत्य है मित्र ! तुमने बिल्कुल ठीक कहा ।
(प्रकट) रतिकले ! नवकुसुमित माधवीलता से आकृष्ट हुआ मैं अत्यन्त
आश्चर्य में पड़कर शीघ्रतापूर्वक इस केलिवन (आनन्दोपवन) में चला
आया था ।

रतिकला—महादेवी तो इतनी देर तक महाराज को न देखने के कारण
एक-एक क्षण एक-एक युग के समान बिता रही है ।

राजा—तो देवी के पास पहुँचने का मार्ग दिखाओ ।

रतिकला—एतु एतु महाराजः । (एदु एदु महाराजो ।)

[राजा परिक्रामति]

विदूषकः—[चन्द्रकलालङ्क कृतां माधवीलतां दर्शयन्] भो वयस्य ! इयं खलु अननुभूतपरिमला^१ अनुरोदितीव त्वां गच्छन्तं गलन्मकरन्दा माधवीलता । तद्वचनेनापि सम्भाव्यतामेषा । (भो बअस्स, इअं क्खु अणणहूदपरिमला अणुरोअदिविअ तुमं गच्छन्तं गलन्तमअरन्दा माहबिलदा । ता बअणेवि सम्भाविअदु एसा ।)

राजा^२—सखे ! भद्रम् [इति माधवीलतामवलोक्य]
आसादयति न यावन्माधवि ! भवती^३ मिहैव पुनः ।
निवृत्तिमेति न चेतः चित्ररथक्षमापतेस्तावत् ॥१६

अननुभूतपरिमला—न अनुभूतः परिमलः सुवासो यया तादृशी, गलन्मकरन्दा-गलन् स्रवन् मकरन्दः पुष्परसः यस्याः तादृशी च, इयं माधवीलता, गच्छन्तं त्वाम्, अनुरोदितीव—पश्चादश्रु विमुञ्चतीव । तत्—तस्मात्, वचनेनापि—वाचापि, एषा, सम्भाव्यताम्—आद्वियताम् ।

माधवि ! यावत्, भवतीम्, इहैव, पुनः—भूयः, न, आसादयति—प्राप्नोति तावत्, चित्ररथक्षमापतेः—राज्ञश्चित्ररथस्य, चेतः—चित्तं, निवृत्ति—शान्ति, न एति—न गच्छति । अत्र उपगीतिच्छन्दः ११६

रतिकला—इधर से चलें महाराज ! इधर से ।

(महाराज चलने का नाट्य करते हैं)

विदूषक—भो मित्र ! (चन्द्रकला से शोभित माधवीलता को दिखाकर) माधवीलता जिसका परिमल अनाघ्रात रह गया, आपको जाते हुए देखकर रोती हुई मकरन्द-रस को गिराने लगी । इसलिए कम से कम वचन से तो इसे सान्त्वना दे दें । (माधवीलता से तात्पर्य, चन्द्रकला की ओर निर्देश है)

राजा—उचित कहा मित्र ! (माधवीलता को देखकर) हे माधवी ! जब तक पुनः आकर तुम्हारा सहचर नहीं बनेगा, तब तक राजा चित्ररथ का हृदय शान्ति नहीं प्राप्त कर सकेगा । १६

१ अनुभूतपरामला मू० पा० । २ रारा मू० पा० । ३ भवती मू० पा० ।

[इति रतिकलानिर्दिश्यमानमार्गं विदूषकेण समं निष्क्रान्तः]

चन्द्रकला—[दीर्घं निःश्वस्य स्वगतम्] हा दैव ! कथं मयि मन्दभागिन्याम् ईदृशीऽपि^१ व्यर्थवैरानुबन्ध^२ आचरितः । (हा देव, कथं मयि मन्दभाइणा^३ एदिसोवि विअथुबेराणुबन्धो आअरिदो ।]

सुनन्दना—सखि ! श्रुतं^४ महाराजस्य साभिप्रायं वचनम् । तत् कल्य एव ते मनोरथानां सम्पादयिता महाराजः । इह स्थानमिदानीं न युज्यते । तत् पुरमेव प्रविशावः । [हला, सुदं महाराजस्स साभिप्रायं वअणं । ता कलज्जेव द मणोरघाणं सम्पादयिदा महाराओ । इध द्वाणं दाणीं ण जुज्जदि । ता पुरं ज्जेव प्पविसम्हः ।]

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे]

इति प्रथमोऽङ्कः

रतिकलानिर्दिश्यमानमार्गं—रतिकलया संकेत्यमाने पथि । मन्दभागिन्यां—भाग्यहीनायां, व्यर्थवैरानुबन्धः—निरर्थकशत्रुत्वरूपदुराग्रहः । आचरितः—विहितः । साभिप्रायं—तात्पर्यसंहितं । कल्य एव—प्रभाते वा श्वः एव, ते मनोरथानाम्—अभिलाषाणां, सम्पादयिता—पूरयिता । इह स्थानम्—अत्र अवस्थितिः, इदानीं, न युज्यते—नोचितम् ।

[ऐसा कहकर रतिकला द्वारा निर्देशित मार्ग पर विदूषक के साथ चलता है ।]

चन्द्रकला—[लम्बी सांस लेकर स्वयं] हा दैव ! क्यों तुमने मुझ मन्दभागिनी से इस प्रकार अनुरक्त होने का आचरण करवाया ।

सुनन्दना—सखि महाराज का अभिप्राययुक्त वचन सुना । इसलिए कल ही महाराज तुम्हारे मनोरथों को पूर्ण करेंगे । यहाँ हम दोनों का रुकना उचित नहीं है । चलो अन्तःपुर में ही प्रवेश करें ।

[सभी जाते हैं]

पहला अंक समाप्त

१ ईदृशीऽपि मू० पा० । २ व्यर्थवैरानुबन्धमाचरितः मू० पा० ।

३ मन्दभाइणो मू० पा० । ४ श्रुतं मू० ।

द्वितीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति सुनन्दना विदूषकश्च]

सुनन्दना—आर्य ! महन्, मम प्रियसखी चन्द्रकला तव नियोगेन अद्य निशायां सह सुनन्दनया महाराजसमागमम् अनुसरन्ती सन्तर्पणद्रुमितान्तरा (?) केलिवनदीर्घिकान्ते वर्तते । कथम् एतावन्तं कालं विलम्बते कृतसङ्केतो भर्ता^१ । (अज्ज मह^२ मम पिअसही चन्द्रकला तुह णिओएण अज्ज मीसाए^३ सह सुणन्दणाए महाराजसमा-अमं अणुसरन्ति सन्दणगर्गदुमिदान्तरा केलिवणदिहिआ अन्ते^४ बट्टदि । कध एत्तिकं^५ कालं विलम्बेदि किदसंकेदो भट्टा ।)

विदूषकः—भवति ! प्रसन्नरूपं गृहीत्वा तत्र गन्तुम् उद्वेगमाणो (?)

नियोगन—आज्ञया, निशायां—रात्री, महाराजसमागमं—चित्ररथसङ्गमम् अनुसरन्ती—अनुगच्छन्ती कामयमानेति यावत्, केलिवनदीर्घिकान्ते—क्रीडोद्यान-स्थितवाप्याः अन्ते सन्तर्पणद्रुमितान्तरा—वृक्षाणामावरणे स्थिता, वर्तते । कृतसङ्केतः—कृतः सङ्केतो येन तादृशः, भर्ता—स्वामी, एतावन्तं कालम्—इयत्समयं, कथं, विलम्बते—विलम्बं कुस्ते ? भवति—कल्याणि !, प्रसन्नरूपं—मुदितवेषं, गृहीत्वा—सन्धायं, तत्र—चन्द्रकलायाः निकटे, गन्तुम्, उद्वेगमाणः (?) व्याकुलीभवन्,

[इसके बाद सुनन्दना और विदूषक का प्रवेश]

सुनन्दना—आर्य ! मेरी प्रियसखी चन्द्रकला तुम्हारी युक्ति के अनुसार आज रात्रि में सुनन्दना के साथ महाराज के समागम की आशा से केलिवन की बावली के समीप सन्तर्पण वृक्षों की ओट में स्थित है । क्या कारण है कि महाराज, संकेत देने पर भी इतने समय तक विलम्ब कर रहे हैं ?

विदूषक—भद्रे ! प्रसन्न मुद्रा में महाराज, उस स्थान पर जाने के लिए

१ इयमुक्तिः सुनन्दनायाः, किन्तु सा कथं कथयेत् चन्द्रकला सुनन्दनया सह इति । अतोऽत्र काचन त्रुटिः सम्भाव्यते । २ अहं मू० पा० । ३ णासाए मू० पा० । ३ अते मू० पा० । ४ एत्तिकं मू० पा० ।

प्रियवयस्य उपायैः रुध्यमानया देव्या अग्रत अपि इति भणितः ।
 अद्य मया रजनीकरस्यांशुना विकसन्त्याः केलिवनदीर्घिकाकुमुदिन्याः
 एतेन परिणयोत्सवः सम्पादितव्यः । तत्र आर्यपुत्रेण सन्निहितेन
 भवितव्यमिति^१ । (भोदि, पच्छण्णरुबं गेहणअ तुत्थ गन्तुं उदुबक्क-
 माणो पिअबअस्सो उवाएहिं रुभिजुममाणए देवीए अग्गद^२ एदि
 भणितो । अजु मए रअणीअरस्यांसुणा^३ विअसतीए केलिवणदीहिआ^४
 कुमुदिणीए एदिणा परिणआउसब्बो । संपादिदब्बो । तत्थ अजुउत्तेण
 सणीहिदेण होदव्यत्ति ।)

सुनन्दना—किमत्र प्रतिपन्नं भर्ता ? (अब्बो, किं एत्थ पडिबण्णं^५
 भट्टणा^६ ।)

विदूषकः—भवति ! तत्र मया अतिशयितसकलमन्त्रिबुद्धिविभवेन^७

प्रियवयस्यः—महाराजः, उपायैः,—प्रयत्नैः, रुध्यमानया—साकं गन्तुं निवार्य-
 माणया, देव्या—महाराज्ञ्या, अग्रतः—समक्षे, इति भणितः—एवं कथितः
 (यत्), अद्य, मया, रजनीकरस्य—चन्द्रस्य, अंशुना—किरणेन, विकसन्त्याः
 —संस्फुटन्त्याः, केलिवनदीर्घिकाकुमुदिन्याः—कीडोद्यानवापीकुमुदिन्याः, परिण-
 योत्सवः—विवाहोत्सवः, सम्पादितव्यः—करणीयः । तत्र, आर्यपुत्रेण—भर्ता
 सन्निहितेन—समीपवर्तिना, भवितव्यम् ।

उतावले हो रहे थे, उस समय (कपटपूर्ण) उपायों के द्वारा (महाराज के
 साथ जाने से) रोकी जाती हुई महारानी ने प्रिय मित्र से कहा—'मैं आज
 केलिवन की बावली में विकसित कुमुदिनी का चन्द्रकिरण के साथ परिण-
 योत्सव सम्पन्न करूँगी । वहाँ आर्यपुत्र की उपस्थिति आवश्यक है ।'

सुनन्दना—तब ऐसी परिस्थिति में आपने क्या किया ?

विदूषक—भद्रे ! तब भी समस्त मंत्रियों के बुद्धि-ऐश्वर्य को पराजित कर

१ अयं मू० पा० नास्ति । २ व मू० पा० । ३ रताणी रताणीअरस्यासेन
 मू० पा० । ४ दिहीदा मू० पा० । ५ पडिबण्णं मू० पा० । ६ भट्टणी मू० पा०
 ७... ..बुद्धिभवेण मू० पा० ।

उपायः चिन्तित^१ एव । तदानीं त्वं देव्याः समीपमेव^२ वर्तमाना चन्द्रकलासमीपगतं^३ प्रियवयस्यमेषा यदि अनुसर्तुं गच्छति तदा त्वरितं गत्वा निवेदयस्व एनम् । अहमपि इतो गच्छामि समीहितसम्पादनाय । (भोदि, तत्थ मए अदिसइदसकलमन्त्रिबुद्धिविभवेण उवाओ चिन्ति-दोज्जेव । तादाणि तुमं देवीए समीबं ज्जेव बटटन्ति चन्दअलास-मिबगदं पिअबअस्सम् एसा यदि अणसरिदुं गच्छदि, तदा तुरिअं गदुअ णिवेदेसु^४ एणं । अहं पि इदो गच्छामि समीहिदसम्पादणाय ।)

[इति निष्क्रान्तौ]

प्रवेशकः

अतिशयितसकलमन्त्रिबुद्धिविभवेन—अतिशयितः अतिक्रान्तः सकलानां मन्त्रिणां सचिवानां बुद्धिविभवः प्रज्ञासम्पत् येन तादृशेन, मया, उपायः, चिन्तित एव—विचारित एव । तदानीं—तस्मिन् समये एषा—देवी, अनुसर्तुम्—अनुगन्तुम् गच्छति, त्वरितं—शीघ्रं गत्वा, निवेदयस्व—सूचय, एनम्—प्रियवयस्यम् । समीहितसम्पादनाय—अभीष्टकार्यकरणाय । प्रवेशकः—प्रवेशयतीति प्रवेशकः । 'पञ्चसु अर्थोपक्षेपकेषु अन्यतमोऽयम् । यदुक्तं दंपणं-प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीच-पात्रः प्रयोजितः । अङ्कद्वयान्तविज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥' अस्य प्रवेशकस्य प्रथमाङ्केऽन्त्ये च प्रतिषेधः । यथा दशरूपटीकाकृतः 'नासूचितस्य पात्रस्य प्रवेशः क्वचिदिष्यते । प्रवेशं सूचयेत्तस्मादमुष्याङ्के प्रवेशकात् ॥'

देनेवाला मैंने उपाय (युक्ति) सोच ही लिया । तो तुम अब महारानी के पास ही उपस्थित रहो और देखो कि चन्द्रकला के पास गये हुए [जाते हुए] मेरे प्रिय मित्र का वह पीछा तो नहीं करती । यदि महारानी उनका अनुगमन करें तो तुम तुरन्त धीरे से जाकर उन (महाराज) को बताकर सचेत कर देना । मैं भी अब यहाँ से अभीष्ट सम्पादन के लिए चल रहा हूँ ।

[दोनों चले जाते हैं]

प्रवेशक समाप्त

१ उपायश्चत्त एव मू० पा० । २ समीपे मू० पा० । ३ चन्द्रकलादेव्याः समीपगतं मू० पा० । ४ णुवेदेसु मू० पा० ।

[ततः प्रविशति परितः परिचारिकाभिश्चामरैरुपवीज्यमानो
राजा देवी च]

राजा—प्रिये ! पश्य, पश्य—

विरहिकुलकृतान्तः क्षुण्णकर्पूरकान्तः,
कृतयुवधृतिभङ्गः सम्भृतानङ्गरङ्गः^३ ।
गगनजलधिहंसः स्थाणुचूडावतंसः,
क्षयितकुमुदतन्द्रः शोभते शुभ्रचन्द्रः ॥१

परितः—चतुर्दिक्षु, पारिचारिकाभिः—सेविकाभिः चामरैः-बालव्यजनैः,
उपवीज्यमानः ।

विरहिकुलकृतान्तः—वियोगिसमूहानां कृते यमराट् (इव)
क्षुण्णकर्पूरकान्तः—पिष्टकर्पूर इव मनोज्ञः, कृतयुवधृतिभङ्गः—कृतः
विहितः यूनां धृतिभङ्गः धैर्यनाशो येन तादृशः, सम्भृतानङ्गरङ्गः—संभृतः
पोषितः अनङ्गरङ्गः कामदेवमोदः येन तादृशः गगनजलधिहंसः—आकाश-
रूपसमुद्रस्य हंसः (इव) स्थाणुचूडावतंसः—शङ्करभालालङ्कारः, क्षयित-
कुमुदतन्द्रः—क्षयिता विनाशिता कुमुदतन्द्रा कुमुदपुष्पस्य अस्फुटावस्था येन
तादृशः, शुभ्रचन्द्रः—निर्मलचन्द्रमाः, शोभते—राजते । अत्र मालिनी-
च्छन्दः ॥१

[इसके बाद चमर डुलाती हुई परिचारिकाओं से घिरे हुए राजा और
साथ में महारानी प्रवेश करती हैं]

राजा—प्रिये ! देखो, देखो—

विरही जनों के लिए यमराज के समान, पीसे हुए कर्पूर के सदृश कान्ति-
वाला, युवकों के धैर्य को भंग करनेवाला, कामदेव के हर्ष को बढ़ानेवाला
आकाश रूपी समुद्र का हंस, शंकर के लालट का आभूषण और कुमुदपुष्प को
खिलानेवाला निर्मल चन्द्रमा शोभित हो रहा है ॥१

१ उपवीज्यमानो मू० पा०। सम्भृतानङ्गरङ्गः मू० पा० ।

देवी—तदिदानीं त्वरतामार्यपुत्रः तदस्यालोकमात्रेणापि विहसन्त्या महादीर्घिकाकुमुदिन्याः एतेन परिणयोत्सवं सम्पादयितुम् । (तादाणि तुवरदु अज्जउत्तो तदस्स आलोअमेत्तकेणावि बिहसन्तिए महादिहिआ कुमुदिणीए^१ एदिणा परिणउसब्बं सम्पादितुम^२ ।)

राजा—प्रिये ! अद्यापि त्वयापि न मुक्तो^३ मुग्धभावः, कथं पुनरति-
दवीयसः क्षणदाकरस्य कुमुद्वत्याः करग्रहनिर्वर्तनमित्यपि यस्या मनसि
विवेको न स्फुरति ।

देवी—आर्यपुत्र, किं मामुपहससि ? एतेन किल अमृतमयूखेन
दीर्घिकाकुमुदिन्याः किसलयकरे^४ स्वयमेव करोऽपितो^५ वर्तते ।

अस्य—चन्द्रस्य, आलोकमात्रेणापि—दर्शनमात्रेणापि विहसन्त्याः—
विकसन्त्याः, महादीर्घिकाकुमुदिन्याः—महावापीस्थकुमुदिन्याः, एतेन—चन्द्रेण,
सह, परिणयोत्सवं, विवाहोत्सवं सम्पादयितुम्—कारयितुम्, आर्यपुत्रः, त्वरताम्
शीघ्रतां करोतु । मुग्धभावः—मुग्धता शिशुत्वमिति यावत्, न मुक्तः—न त्यक्तः
अतिदवीयसः—अतिदूरवर्तिनः क्षणदाकरस्य—चन्द्रस्य, कुमुद्वत्याः, करग्रह
निर्वर्तनम्—पाणिग्रहणोत्सवः । अमृतमयूखेन—अमृतकिरणेन—चन्द्रेण, दीर्घिकाकु-
मुदिन्याः, किसलयकरे—नवपल्लवरूपहस्ते, स्वमेव, करः—पाणिः, अपितः—दत्तः ।

देवी—आर्यपुत्र ! फिर शीघ्रता करें और चलकर, केवल चन्द्रमा के
दर्शनमात्र से विहँसती (खिली) हुई बड़ी बावली की कुमुदिनी का इसके साथ
विवाह करा दें ।

राजा—प्रिये अभी तुम्हारी मुग्धता (भोलापन) दूर नहीं हुई है तुम्हारे
हृदय में यह विवेक नहीं आ पा रहा है कि अतिदूरवर्ती चन्द्रमा के साथ कुमुदिनी
का विवाह कैसे हो सकता है ।

देवी—आर्यपुत्र ! क्या उपहास कर रहे हैं ? देखिए, इसने तो अपनी
अमृतमयी किरणों के द्वारा, बावली की कुमुदिनी के कोमल करों में जैसे
अपना हाथ ही अपित कर दिया है । मैं तो इस समय उसके परिणय के

१. कुदिणीए मू० पा० । २. सम्पादितं मू० पा० । ३. मुक्ते मू० पा० ।

४. किशलयकरे मू० पा० । ५. करेऽपितो मू० पा० ।

तदिदानीम्^१ एतयोः परिणयार्थं तव सन्निधानमात्रं^२ मया काङ्क्ष्यते^३
 (अज्जउत्त, किं मं उबहससि ? एदिणा किल अमिअमउहेण^४ दीहि-
 आकुमुदिणीए किलसलअकरे सअज्जेब करेअप्पिदो बट्टदि । तादाणि
 एदाणं परिणअथ्थं तुह संणिघाणमेत्तं मए कंखीअदि ।)

राजा—तथाप्यलमस्येदानीं तव वदनाम्भोजविस्पर्धिनी दोषाकरस्य
 परिणयोत्सवोपादानेन ।

देवी—आर्यपुत्र ! जानामि यथा किल असत्य^५ एव ते सकलोऽपि
 मय्यनुरागबन्धः । यस्य मम एतावन्तमपि मनोरथं पूरयितुं^६ कदापि
 चित्तवृत्तिर्न प्रसरति । (अज्जउत्त, जाणीमि जघा किर असच्चोज्जेब
 दे^७ सअलोवि मयि अणुराअबन्धो जस्स मम एत्तिकं वि मणोरथं
 पुराइदुं कदावि चित्तिवित्तण परिसरदि ।)

तत्—तस्मात्, इदानीम्—अधुना, एतयोः—चन्द्रकुमुदिन्योः परिणयार्थं—
 विवाहार्थं, तव—भवतः सन्निधानमात्रं—सामीप्यमात्रं, मया काङ्क्ष्यते—
 वाञ्छ्यते । वदनाम्भोजविस्पर्धिनः—मुखकमलस्य स्पर्धितुः, दोषाकरस्य—
 चन्द्रस्य, परिणयोत्सवोपादानेन—विवाहोत्सवकरणेन । सकलोऽपि—समस्तोऽपि,
 अनुरागबन्धः—प्रेमबन्धः, मनोरथम्—अभिलाष, पूरयितुं—सफलयितुं, चित्तवृत्तिः—
 न प्रसरति—मनःप्रवृत्तिर्न भवतीत्यर्थः ।

अवसर पर आपकी उपस्थिति मात्र चाहती हूँ ।

राजा—तथापि, प्रिये ! तुम्हारे मुखकमल से स्पर्धा करनेवाले चन्द्रमा
 का विवाहोत्सव सम्पन्न करना व्यर्थ ही है ।

देवी—आर्यपुत्र ! जानती हूँ मेरे प्रति आपका यह अनुराग कोरा असत्य
 है जो आप मेरी (इस) साधारण-सी इच्छा को भी पूरा नहीं करना चाहते ।

१ तदिनीं मू० पा० । २ सन्निधाय मात्रं मू० पा० । ३ काङ्क्षते मू० पा०
 ४ अमित मचिहेण मू० पा० । ५ असत्यत मू० पा० । ६ पूरयितुं मू० पा० ।
 ७ न इत्ति मू० पा० । नास्ति । न भवे मू० पा० ।

राजा—[विचिन्त्य स्वगतम्] एकतः खलु,
व्योममण्डलमिदं समाकुले तां चमूरुचललोचनां विना ।
शीतदीधितिमयूखकैतवान्मुञ्चतीव मयि मुमुंरं मुहुः ॥२

अन्यच्च तत्र,
अत्र केलिविपिने निवसन्तीं दीर्घिकाकुमुदिनीमभियान्ती^१ ।
तामियं मयि निवेशितभावां वीक्षते न पुनरित्यपि भीतिः^२ ॥३

इदं—दृश्यमानं, व्योममण्डलम्—आकाशमण्डलम्, तां चमूरुचल-
लोचनां-मृगस्येव चञ्चलनेत्रां (चन्द्रकलां), विना-अन्तरा, समाकुले-
विह्वले, मयि, शीतदीधितिमयूखकैतवात्-चन्द्रकिरणच्छलात्, मुमुंरं
तुषान्निं, मुहुः—असकृत्, मुञ्चतीव—त्यजतीव । अत्र रथोद्धताच्छन्दः । २

दीर्घिकाकुमुदिनीम्—वापीस्थकुमुदिनीम्, अभियान्ती—उपगच्छन्ती
इयं—महाराज्ञी, अत्र—अस्मिन्, केलिविपिने—क्रीडाकानने, निवसन्तीं—
वासं कुर्वन्तीं, मयि, निवेशितभावां—केन्द्रितचित्तद्वत्ति, तां—चन्द्रकलां
वीक्षते न—पश्येत् न, पुनः, इत्यपि, भीतिः—भयम् । अत्र स्वागतान-
च्छन्दः । ३

राजा—[सोचकर मन में] एक ओर,

यह आकाशमंडल हरिणी की-सी चंचल आंखों वाली उस तरुणी के बिना
व्याकुल मुझ पर चन्द्रमा की शीतल किरणों के वहाने बार-बार मानों भूसी की
आग बरसा रहा है । २

दूसरी ओर, हृदय को यह आशंका और भय लगा हुआ है कि वावली में
खिली कुमुदिनी की ओर जानेवाली यह महारानी वहाँ केलिवन में मेरे ऊपर
अपने चित्त को केन्द्रित किये हुए स्थित उस (चन्द्रकला) को कहीं देख
न लें । ३

१ अभियान्ति मू० पा० । २ भित्तिः मू० पा० ।

तर्किकं पुनरत्र करणीयम् ? आः, ग्रहो नाम दुरपनोदः प्रायशः^१
स्त्रीणाम् [विचिन्त्य] तदलमिदानीमत्रातिनिबन्धेन । तावदेव
तावत् । [प्रकाशम्] प्रिये ! एह्यो हि । अतएव सम्पादयामि दीर्घिका-
कुमुदिनी^२ परिणयोत्सवम् ।

[इत्युभौ सपरिवारौ केलिवनप्रवेशं नाटयतः]

[नेपथ्ये कलकलः । सर्वे शृण्वन्तु । पुनर्नेपथ्ये]

रे रे केलिवनरक्षकाः ! पलायध्वं पलायध्वम् । इदानीं खलु—
लाङ्गूलेनाभिहत्य क्षितितलमसकृदारयन्न^३ ग्रपद्भ्या—

स्त्रीणां, ग्रहः—दुराग्रहः हठ इति यावत्, प्रायशः—बाहुल्येन, दुरपनोदः—
दुःखेन निराकर्तुं योग्यः । अतिनिबन्धेन—दुराग्रहेण, अलं—व्यर्थम् ।
दीर्घिकाकुमुदिनीपरिणयोत्सवम्—वापीस्थकुमुदिनीविवाहमङ्गलम् । कलकलः—
कोलाहलः । केलिवनरक्षकाः—उद्यानपालाः ।

कोपाविष्टः—ऋद्धः, (अतएव) अरुणोच्छूनचक्षुः—अरुणे रक्तवर्णे
उच्छूने स्फीते च चक्षुषी नेत्रे यस्य तादृशः, एषः, तरक्षुः—व्याघ्रविशेषः
लाङ्गूलेन—पुच्छेन, क्षितितलम्—भूमिम्, अभिहत्य—ताडयित्वा,
अग्रपद्भ्यां—चरणाभ्याम्, असकृत्—वारं वारं, दारयन्—क्षितितलमेव

तो अब क्या करना चाहिए ? आह ! स्त्री-हृदय की धारणा को बदलना
कठिन है । [सोचकर] तो अब इस विषय में हठ करना उचित नहीं । और
अब वही करना चाहिए जो महारानी चाहें [प्रकट] प्रिये ! आओ, आओ ।
चलकर बावली की कुमुदिनी का परिणयोत्सव सम्पन्न करें ।

[ऐसा कहकर दोनों केलिवन में प्रवेश करते हैं]

[नेपथ्य में कोलाहल । सुनें सब ! पुनः नेपथ्य में]

अरे केलिवन के पहरेदारों ! भागो भागो । इस समय—

अपनी पूंछ को बार-बार पटककर, अगले पैरों से धरती को खोदता हुआ,
कुछ क्षणों के लिए अपनी देह को सिकोड़कर छोटा होकर बड़ी ही तेजी

१ दुरापनोदः प्रायसः मू० पा० । दीर्घिकामुदिनी मू० पा० । ३ धारयन्
इति पाठभेदः ।

मात्मन्येवावलीय^१ द्रुतमथ गगनं प्रोत्पतन् विक्रमेण ।

स्फूर्जफुत्कारघोषः^२ प्रतिदिशमखिलान् भाययन्नेष^३ जन्तून्
कोपाविष्टः प्रविष्टः प्रतिवनम^४ रुणोच्छून^५ चक्षुस्तरक्षुः ॥४

सर्वा—[श्रुत्वा सभयम्] आर्य ! भट्टिनि !^१ इदमेव केलिवनं
प्रविष्टो दुष्टव्याघ्रः । तदितः पलायामहे । (अज्जो भट्टिणि, इमं
ज्जेब केलिवणं पविट्ठो दुः वध्वो । ताइदो पलाइअम्ह ।)

देवी—मातः ! कथं व्याघ्रः । (अब्बो, कधं बध्वो !)

[इति राजानमालिङ्गति]

विलिखन् आत्मन्येव अवलीय—सङ्कुचितदेहो भूत्वेत्यर्थः, अथ—अनन्तरं,
विक्रमेण—शक्त्या, द्रुतं—शीघ्रं गगनम्—आकाशम्, प्रोत्पतन्—
उदगच्छन्, स्फूर्जन् वर्धमानः फुत्कारघोषः—फुत्कारशब्दो यस्य तादृशः
प्रतिदिशं—सर्वासु दिक्षु, अखिलान्—समस्तान् जन्तून्—छागकुक्कुरादि
प्राणिगणान् भाययन्—भयभीतान् कुर्वन् प्रतिवनं—वने वने, प्रविष्टः :
अत्र स्रग्धराच्छन्दः, स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥४

से आकाश की ओर उछलकर गर्जन के साथ धूँ धूँ का घोष करता हुआ
चारों ओर वन के समस्त जीव-जन्तुओं को डराता हुआ बड़ी-बड़ी लाल वर्ण
की-सी आँखि नचाता जैसे क्रोध में भरा ही, यह लकड़बग्घा (बघेरा) वन के
एक छोर से दूसरे छोर की ओर बढ़ता हुआ धुसता चला आ रहा है ॥४

सभी—[भय के साथ सुनकर] आर्य स्वामिनी ! यह दुष्ट बाघ इसी
केलिवन में घुस आया । चलो, यहाँ से भाग चलें ।

देवी—माँ कौसा बाघ ?

[यह कहकर राजा से लिपट जाती है]

१ वलिय मू० पा० । २ स्फुदफुत्कार घोरः मू० पा० । ३ द्रावयन्नेष इति
पाठान्तरम् । प्रतिवल इति पाठभेदः । ५ त्सूनचक्षुस्तरक्षुः मू० पा० ।

राजा—प्रिये ! न भेतव्यं न भेतव्यम् । अमुना खलूपकृतोऽहम-
याचितभवदीयसंरम्भनिर्भरपरिरम्भनिर्भिन्नपुलकाङ्कुरस्तरक्षुणादुष्टेन ।

[प्रविष्यापटीक्षेपेण सम्भ्रान्तः शवरः । राजानं प्रति दूरतः
सप्रणामम्]

शवरः— जयतु जयतु भट्टारकः^१ । एष खलु कुतोऽपि केलिवनं
प्रविष्टः इतस्ततः कुरङ्गयूथविद्रावकः दृष्टिदिगन्तभयङ्करः दुष्टतरक्षुः
वटुकः । तदिदानीं भर्तानुज्ञातं^२ मारयितुमिच्छन्ति केलिवनरक्षका
वनचराः । (जेदु जेदु^३ भट्टालको । एसो वखु कुदोबि केलिवणं पबिट्ठो
इदो तदो कुलङ्गजुधबिज्जावउके दिट्ठिदिगन्तभअंकुले दुट्ठतलक्षु-
बडको^४ । तादाणि भट्टालकेण आणत्ता तं मालइदुं इच्छन्ति केलिवणर
वखका वणचला ।)

अयाचितभवदीयसंरम्भनिर्भरपरिरम्भनिर्भिन्नपुलकाङ्कुरः— अयाचितेन
स्वतः प्राप्तेन भवदीयेन त्वदीयेन संरम्भनिर्भरपरिरम्भेण गाढालिङ्गनेन
निर्भिन्नः उदगतः पुलकाङ्कुरः रोमाञ्चः यस्य तादृशः, अहम्, अमुना—तरक्षुणा
उपकृतः । सम्भ्रान्तः—व्याकुलः । भट्टारकः—देवः । कुरङ्गयूथविद्रावकः—
मृगवृन्दधर्षकः ।

राजा—प्रिये ! न डरो न डरो । इस वाघ ने तो मेरा बड़ा उपकार किया ।
क्योंकि इसी के कारण तुम्हारे गाढालिङ्गन के अयाचित आनन्द की प्रप्ति हो गई।

[परदे को हटाकर हड़बड़ाता हुआ शवर प्रवेश करता है । दूर से ही राजा
को प्रणाम करके]

शवर—महाराज की जय हो ! जय हो !! दश दिशाओं में भय व्याप्त
करनेवाले इस दुष्ट वाघ ने कहीं से इस केलिवन में घुसकर हरिण-समूहों को
तितर-बितर कर डाला है । इसलिए केलिवन के रक्षकगण, इसे मारने के लिए
आपकी आज्ञा चाहते हैं ।

१ खलु प्रकृतोऽह मू० पा० । २ भट्टारकः मू० पा० । ३ भर्ता अनुज्ञातं
मू० पा० । ४ जेदु मू० पा० । ५ तरक्षुवडुके मू० पा० ।

राजा—[श्रुत्वा सकौतुकम्] वनपाल ! केलिवनमृगवृन्दविद्रा-
वकोऽपि^१ तिष्ठतु क्षणमयं तरक्षुः । वयमिदानीं खलु तदालोकन-
कुतूहलिनो वर्तमिहे ।

देवी—[सभयम्] आर्यपुत्र ! एतैर्मारयित्वा इत आनीतोऽपि
प्रेक्षितव्य^२ एषः । अलं ते तत्र गमनपरिश्रमेण । (अज्जउत्त !
एदेहिं मारिअ इघ आणिदोबि पेक्खिदब्बो एसो । अलं दे तथ्य
गमणपलिस्समेण ।)

राजा—प्रिये, न भेतव्यं, न भेतव्यम् ।

आत्मबाहुबलनिर्जिताखिलक्षोणिमण्डलसमिद्धतेजसाम् ।
ईदृशेषु शशिवंशजन्मनामस्ति कैव गणना तरक्षुषु ॥५

आत्मबाहुबलनिर्जिताखिलक्षोणिमण्डलसमिद्धतेजसा— स्वभुजप्रतापा-
जितनिखिलभूमण्डलेन समिद्धं प्रदीप्तं तेजो येषां तथाभूतानां, शशिवंश—
जन्मनां—चन्द्रवंशीनायाम् (कृते) ईदृशेषु, तरक्षुषु—व्याघ्रेषु, गणना,
एव, का ? न कापीत्यर्थः । अत्र रथोद्धताच्छन्दः । ५

राजा—[सुनकर कौतुकपूर्वक] वनरक्षक ! यद्यपि इसने केलिवन के
मृगयूथों को भय के कारण तितर-वितर कर दिया है तथापि कुछ क्षणों के
लिए अभी इसे मत मारो । हमें इसे देखने का कुतूहल हो रहा है ।

देवी—[भयभीत होकर] आर्य ! इस लकड़बग्घे को उन लोगों के द्वारा
मारकर लाये जाने पर भी हम लोग देख सकते हैं । आपको वहाँ जाने
की कोई अवश्यकता नहीं है ।

राजा—प्रिये ! डरो, नहीं डरो नहीं—

अपने वाहुबल से समस्त भूमण्डल को जीतकर प्रज्ज्वलित प्रतापवाले हम
चन्द्रवंशी वीरों के सामने इस लकड़बग्घे की कौन-सी गिनती है ? ५

त्वमिदानीं सपरिवाराऽन्तःपुरमेव प्रविश^१ । क्षणेनैव निहततरक्षु-
क्षयमानयिष्ये^२ भवतीम् ।

[इति गन्तुमुपक्रमते]

देवी—[परिष्वज्य । सबाष्पम्] आर्यपुत्र ! यदि त्वया अवश्यं
गन्तव्यं, तदा मयापि गन्तव्यम् । (अज्जउत्त ! जदि तए अबस्सं गन्तव्वं
तदा मएबि गन्तव्वम् ।)

राजा—कातर्यं हि नाम स्वाभाविको धर्मः स्त्रीणाम् । तत्कथं भवत्या
तादृशस्य तरक्षोरभिमुखं^३ क्षणमपि वर्तितव्यम् ! किंच^४ त्वयि सन्नि-
हितायां त्वद्वदनैकपरायणस्य ममापि प्रत्यूहो भवति तरक्षुमारणस्य ।
तदलमिदानीमत्र महीयसाभिनिवेशेन । सपरिवारान्तःपुरमेव प्रविश

सपरिवारा—परिजनसहिता । क्षणेनैव—किञ्चित्क्षणानन्तरमेव झटित्ये
वेत्यर्थः, निहततरक्षुक्षयम्—मारितव्याघ्रावशेषम् । परिष्वज्य—आलिङ्ग्य ।
कातर्यं—भीरुत्वम् । अभिमुखं - सम्मुखम् । सन्निहितायां—समीपस्थितायां,
त्वद्वदनैकपरायणस्य—स्वन्मुखावलोकनासक्तस्य, प्रत्यूह—विघ्नः । महीयसा—
अत्यधिकेन, अभिनिवेशेन—आग्रहेण ।

सम्प्रति तुम सपरिवार अन्तःपुर में जाओ । क्षणमात्र में मैं इस लकड़बग्घे
का वध करके उसके अवशेष लेकर तुम्हारे पास उपस्थित कर देता हूँ ।

[ऐसा कहकर वह जाने लगता है]

देवी—[आँखों में आँसू भरकर] यदि आप जायेंगे ही तो मैं भी आपके
साथ चलूंगी ।

राजा—भीरुता स्त्रियों का स्वाभाविक धर्म है । तुम कैसे क्षणमात्र भी
उस लकड़बग्घे के सामने रुक सकोगी ? (नहीं रुक सकती हो) । इतना ही
नहीं, यदि तुम उसके पास रहोगी तो उसको मारने में भी मुझे बाधा पड़ेगी ।
क्योंकि मेरा ध्यान तुम्हारे मुख पर ही लगा रहेगा । इसलिए अब इस ओर
अधिक आग्रह उचित नहीं है । अपनी परिचारिकाओं के साथ तुम अन्तः पुर
को ही प्रस्थान करो ।

१. प्रविश्य मू० पा० । २. क्षय आनयिष्ये मू० पा० ३. मुख मू०
पा० ५. मुक्तिशुभावन Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

देवी—[सबाष्पम्] प्रतिहतममङ्गलं^१ भवतु आर्यपुत्रस्य ।
(पडिहदममङ्गलं भोदु अज्जउत्तस्स ।)

[इति राजानमालोकयन्ती सपरिवारा निष्क्रान्ता]

राजा—वनपाल ! तद्दर्शय कुतस्तरक्षुः ।

शवरः—एतु एतु स्वामी^२ । (एदु एदु^३ सामिके ।)

[राजा परिक्रामति]

शवरः—पश्यतु पश्यतु स्वामी । एष सम्मारित^४ कुरङ्गरुधिरान्त-
जालकरालितनखरो दृष्टिदिगन्तभयङ्करस्तरक्षुवटुकः । (पेक्खदु
पेक्खदु^५ सामिके । एस समालिदकुलङ्गलुधिलअन्तजालकलादिण-
हलो^६ दिठिदिगन्तभयङ्कलो तलक्खुबडुको ।)

अमङ्गलम्—अकल्याणम् प्रतिहतं—विनष्टम् । सम्मारितकुरङ्गरुधिरान्तजाल-
करालितनखरः—सम्मारिताः व्यापादिताः ये कुरङ्गा मृगा तेषां रुधिरैण
शोणितेन अन्तजालेन अन्त्रेण च करालिताः भयानकाः नखराः नखाः यस्य
तादृशः, दृष्टिदिगन्तभयङ्करः—दृष्ट्या दिगन्तेषु दिशामन्तेषु भयङ्करः भयोत्पावकः
तरक्षुवटुकः—दुष्टतरक्षुरित्यर्थः ।

देवी—[आँखों में आँसू भरकर] आर्यपुत्र के लिए अमंगल नष्ट हो जायें ।
[ऐसा कहकर राजा को देखती हुई परिचारिकाओं के साथ अन्तःपुर की ओर
प्रस्थान करती है]

राजा—वनपाल ! तो दिखाओ, कहाँ है लकड़बग्घा ?

शवर—इधर से आएँ स्वामी इधर से ।

[राजा चलता है]

शवर—देखिए, देखिए स्वामी । यह है दुष्ट लकड़बग्घा । भली-भाँति
मारे हुए हरिणों के रक्त से नखों को लोहित किये हुए, अपनी भयावह दृष्टि
से दिशाओं को भी भयभीत कर रहा है ।

१ प्रतिहतममङ्गलं मू० पा० । २ स्वामिके मू० पा० । ३ एदु २ मू० पा० ।

४ समारित मू० पा० । ५ पेक्खदु २ मू० पा० । ६ समालिदकुलङ्गलुधिल-

अन्तजालिकरालितनखरो मू० पा० ।

[इत्यङ्गुल्या निर्दिशति]

राजा—[विलोक्य] आः, कथं ममापि नाम केलिवने—

उदस्यैकं पादं विटपिषु मुहुः स्कन्धकषणात्,^१
कृतव्योमाभङ्गः शकुनिकुलकोलाहलभरैः ।
परिभ्राम्यन्नुच्चैः प्रकटरसनो^२ व्यात्तवदन-
स्तरक्षुः क्रुद्धोऽयं क्षिपति मृगयूथानि परितः ॥६

तदिदानीं, वनपाल ! त्वरितमानय सशरं शरासनम् ।

शवरः—यदाज्ञापयति भट्टारकः^३ । (जं आणवेदि भट्टालके ।)

एकं पादम्—चरणम्, उदस्य—उत्थाप्य, विटपिषु—वृक्षेषु, मुहुः—
वारं वारं, स्कन्धकषणात्—वर्षणात्, शकुनिकुलकोलाहलभरैः—
पक्षिसमूहकलकलैः कृतव्योमाभङ्गः—कृतः विहितः व्योमनः आकाशस्य
आभङ्गः ध्वंसः येन तादृशः पक्षिनिनादैराकाशमापूरयन्नित्यर्थः, परिभ्राम्यन्—
इतस्ततो गच्छन् उच्चैः—अतीव, प्रकटरसनः—प्रदर्शितजिह्वः, व्यात्तवदनः—
व्यासं विस्फारितं वदनं मुखं येन तादृशः अयं—दृश्यमानः क्रुद्धः—कुपितः
तरक्षुः—व्याघ्रः, परितः—समन्तात्, मृगयूथानि—हरिणसमूहान्
क्षिपति—विद्रावयति । अत्र शिखरिणीच्छन्दः । ६

त्वरितं—शीघ्रं, सशरं—बाणसहितं, शरासनं—धनुः । भट्टारकः—देवः ।

[अंगुलियों से दिखाता है]

राजा—[देखकर] आह ! यह क्या ? मेरे (जैसे वीर के) भी क्रीडावन में—
यह क्रुद्ध लकड़वग्घा एक पैर को उठाये हुए, वार-वार अपने कंधों को
वृक्षों में रगड़ रहा है, जिससे उन पर बैठे हुए भयातुर पक्षियों के कोलाहल से
आकाश भर रहा है । मुंह फैलाकर जीभ लपलपाता हुआ उछल कर चारों
ओर चक्कर लगाता हुआ, सब ओर हरिण-समूहों को आक्रान्त कर रहा है । ६
इसलिए, वनपाल ! अब शीघ्र ही धनुष और बाण लाओ ।

शवर—स्वामी की जैसी आज्ञा ।

१ स्कन्धकषणात् मू० पा० । प्रकटरसन मू० पा० । ३ भट्टारकः
मू० पा० । Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

[इति निष्क्रम्य राज्ञः सशरं शरासनमुपनयति]

[राजा नाट्येन आदत्ते]

शवरः—अरे दुष्टतरक्षो^१ ! क्व^२ इदानीम् ? एहोहि । एष खलु गृहीतशरासनको^३ भर्ता । (अले दुट्टु तलक्खु । आदाणी ईहिहि ! एसो क्खु गिहिदसलसणको^४ भट्टालको^५ ।)

[तरक्षुः सधुत्तारमभिविक्रम्य संहितबाणशरासनं राजानमवलोक्य पलायते । राजा शवरानुगतो धावति]

तरक्षुः—[सर्वतः केलिवनं विजनमालोक्य] एषोऽस्मि रसालकः संवृत्तः । (एस्सोम्मि रसालओ संवृत्तो ।)

[इति व्याघ्रभूमिकां परित्यज्य विदूषकरूपस्तिष्ठति]

उपनयति—समीपं प्रापयति । आदत्ते—गृह्णाति । गृहीतशरासनकः—गृहीतम् आदत्तं शरासनकं धनुः येन तथाभूतः । सधुत्तारं—सगर्जनम्, अभिविक्रम्य—परिक्रम्य, संहितबाणशरासनं—संधानीकृतबाणेन युक्तं शरासनं यस्य तादृशं राजानम् । शवरानुगतः—शवरेण अनुसृतः । विजनम्—एकान्तम् । संवृत्तः—जातः । व्याघ्रभूमिकां तरक्षुकृत्रिमरूपम् ।

[यह कहकर जाता है और धनुष-बाण लाकर राजा को देता है]

[राजा अभिनय के साथ ग्रहण करता है]

शवर—अरे दुष्ट लकड़बग्घा ! अब कहाँ हो ? इधर सामने आओ । हमारे महाराज अब धनुष-बाण हाथों में धारण कर चुके हैं ।

[लकड़बग्घा घूं घूं शब्द के साथ तीव्र गर्जन करते घूमता हुआ, धनुष-बाण लिये हुए राजा को देखकर भागता है । राजा उसके पीछे दौड़ता है और शवर उसका अनुगमन करता है ।]

तरक्षु—[केलिवन को सभी मनुष्यों से रहित देखकर] लकड़बग्घे के रूप में यह स्वयं मैं हूँ रसालक ।

[ऐसा कहकर लकड़बग्घे का वेश बदलकर विदूषक के रूप में प्रकट हो जाता है ।]

१ तरक्षुः मू० पा० २ 'क्व' इत्यस्य प्राकृतरूपं पाण्डुलिपो नास्ति ।

३ शरासत्तके मू० पा० । ४ सणके मू० पा० । ५ भट्टालके मू० पा० ।

राजा—[विलोक्य सहर्षम्] सखे ! सदृशमाचरितं प्रतिज्ञातस्य प्रतिदिनमुपचीयमानस्य च सौहृदस्य । [शवरं प्रति] वनपाल ! तदिदानीं भवता शिला^१ तरक्षुमेकमानीय इहैव विशिखजालनिर्मिन्नं स्थापितवता तद् घुष्यतामभितो महाराजेन निहतस्तरक्षुरिति ।
शवरः—यदाज्ञापयति स्वामी^२ । (जं आणवेदि सामिके ।

[इति निष्क्रान्तः]

राजा—सखे ! पश्य, पश्य—

सह कुमदकदम्बैः काममुल्लासयन्तः,
सह घनतिमिरौघैर्धैर्यमुत्सादयन्तः^३ ।

सदृशं—योग्यम्, आचरितम्—अनुष्ठितम्,—उपचीयमानस्य—वर्धमानस्य, सौहृदस्य—बन्धुत्वस्य । शिलातरक्षुम्—प्रस्तरनिर्मितं तरक्षुम् । विशिखजाल-निर्मिन्नम्—वाणैः विद्धम्, अभितः—चतुर्दिक्षु, घुष्यताम्—घोषणा क्रियताम् ।
कुमदकदम्बैः—कौरवसमूहैः, सह—साकं, कामं—कन्दर्पम्, उल्लासयन्तः—प्रकाशयन्तः, घनतिमिरौघैः—घना निविडा ये तिमिरौघाः अन्धकारसमूहाः तैः, सह, धैर्यं—चित्तस्थिरताम्, उत्सादयन्तः—नाशयन्तः, सरसिजंषण्डैः—पद्मसमूहैः, सह, स्वान्तं—चित्तम्, आमीलयन्तः—कामवेगेन सकोचयन्तः, अमृतांशोः—चन्द्रस्य, अंशवः—किरणाः, प्रतिदिशं—सर्वासु दिक्षु,

राजा—[देखकर हर्ष के साथ] मित्र ! प्रति दिन बढ़नेवाली मित्रता की प्रतिज्ञा के अनुरूप तुमने किया । [शवर से] वनपाल ! अब तुम पत्थर का एक लकड़बग्घा लाकर यहीं पर वाणों से उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालो और सर्वत्र घोषणा कर दो कि महाराज ने लकड़बग्घे को मार डाला ।

शवर—महाराज की जैसी आज्ञा ।

[ऐसा कहकर चला जाता है]

राजा—मित्र ! देखो, देखो—

कुमुदफूलों के साथ कामासक्ति को जगाती हुई, मिटते हुए अन्धकारसमूह के साथ (युवक-जनों के) धैर्य को तोड़ती हुई, कमल—

१ शीलास्तरक्षु मेकमानीय मू० पा० । २ इयं संस्कृतच्छाया पाण्डुलिपी नास्ति । ३ मन्त्रसंस्कारयन्त्रवृत्तिप्रकाशकसंस्कृतसंग्रहण. Digitized by eGangotri

सह सरसिजषण्डैः स्वान्तमामीलयन्तः,
प्रतिदिशममृतांशोरंशवः' सञ्चरन्ति ॥७

विदूषकः—भो वयस्य ! ममापि शृणु कवित्वम्—

एष शशधरबिम्बो दृश्यते हैयङ्गवीनपिण्ड इव ।
एते अस्य मयूखाः पतन्ति आशासु^२ दुग्धधारा इव ॥८
(एसो ससहरबिम्बो दीसह हेअङ्गवीण^३ पिण्डोब्ब ।
एदे अस्स मउहा^४ पडन्ति^५ आसासु दुद्धधाराब्ब^६ ॥८)

राजा—अहो भोजनरसिकता^७ प्रियवयस्यस्य । सखे ! तदिदानीं
दर्शय कुतः प्रियतमा मे चन्द्रकला^८ ।

[ततः प्रविशति मदनावस्थां नाटयन्ती चन्द्रकला]

सञ्चरन्ति—प्रसरन्ति । अत्र अतिशयोक्तिमूला सहोक्तिरलङ्कारः, मालिनी-
च्छन्दः ॥७

एषः, शशधरबिम्बः—चन्द्रबिम्बः, हैयङ्गवीनपिण्ड इव—पूर्वदिनोत्पन्न-
दुग्धनिष्पन्नघृतपिण्ड इव, दृश्यते—अवलोक्यते, अस्य—चन्द्रस्य एते
मयूखाः—किरणाः आशासु—दिक्षु—दुग्धधारा इव—क्षीरप्रवाहा इव
पतन्ति—वर्षन्तीत्यर्थः ॥८

समूहों के संकोच के साथ (विरह-ताप से) मेरे चित्त को संकुचित बनाती
हुई चारों ओर चन्द्रमा की किरणें फैल रही हैं ॥७

विदूषक—हे मित्र अब मेरी भी कवि-कल्पना सुनो—चन्द्रमा का यह
बिम्ब जैसे मक्खन का गोलाकार पिण्ड है और ये इसकी किरणें दिशाओं में
दूध की धारा-सी बरस रही हैं ॥८

राजा—वाह रे, मित्र की भोजनप्रियता ! तो अब हमारी प्रियतमा चन्द्र-
कला कहाँ है ? दिखाओ ।

(तभी काम-पीडित अवस्था में चन्द्रकला आती है)

१ रशंवः मू० पा० । २ पतन्त्याशासु इति पाठान्तरम् । ३ हेअङ्गविण
मू० पा० । ४ ए ए अस्स मोहा इति पाठभेदः । ५ पडन्ति मू० पा० ।
६ आसासुदुद्धधाराब्ब पाठान्तरम् । ७....रसिकविता मू० पा० । ८ च कला
मू० पा० ।

चन्द्रकला—[दीर्घ निःश्वस्य]

यदि बद्धो^१ निबन्धस्त्वया तादृशे दुर्लभेऽर्थे ।
तत्किं हृदय ! खिद्यसे भुङ्क्व^२ अविचारितस्य फलम् ॥६॥

(जति बद्धो निबद्धो तए तारिस दुल्लहे अथ्ये ।
तार्किं हिअअ खिजुसि भुंजसु अविआरिअस्स फलं ॥६॥)

विदूषकः—एतु एतु प्रियवयस्यः । (एदु, एदु पिअबअस्सो^३ ।)

[इत्यग्रतो भूत्वा पुरस्तादवलोक्य]

भो वयस्य ! पश्य, पश्य । इत एव सा ते^४ प्रियतमा । (भो
वअस्स ! पेक्ख, पेक्ख^५ । इधज्जेव सा पियतमा ।)

[अङ्गुल्या दर्शयति]

हृदय—चित्त, यदि—चेत्, त्वया, तादृशेः—दुष्प्रापे, अर्थे—वस्तुनि
निबन्धः—प्रेमबन्धनम्, बद्धः—स्वीकृतः तत्—तर्हि, किं—कथं, खिद्यसे—खिन्नं
भवसि ?, अविचारितस्य—विवेकमन्तराऽनुष्ठितस्य कायस्यं, फलं—परिणामं,
भुङ्क्व—प्राप्नुहि ॥६॥

चन्द्रकला—[लंबी सांस लेकर]

हे हृदय ! यदि तुमने उस दुर्लभ जन मे अनुराग करने का संकल्प कर
लिया तो अब शोक क्यों कर रहे हो ? बिना आगा-पीछा सोचे कोई काम करने
का जो फल होता है उसे भोगो ॥६॥

विदूषक—इधर आओ, मित्र ! इधर ।

[ऐसा कहकर आगे बढ़ता है और सामने देखकर]

मित्र ! देखो, देखो । यही है तुम्हारी प्रियतमा ।

[अंगुली से दिखाता है]

१ बन्धो मू० पा० । २ भुङ्क्व मू० पा० । ३ एदु इत्येक एव मू० पा० ।
४ ते इत्यस्य प्राकृतरूपं नात्र लभ्यते । ५ पेक्ख २ मू० पा० ।

राजा—[विलोक्य सहर्षम्] एतद्वदनचन्द्रावलोकनेन क्षणेन क्षयमुपगतो मे सकलोऽपि हृदयसन्तापः । [पुनरवलोक्य] कः पुनरयं मदनशरसम्पातजनितश्चित्तसन्तापोऽस्याः ?

रहितप्रियप्रयोगं निरस्तरागं निरुपहारमपि^१ ।
नर्तयति स्तनयुगलं सन्ततमन्तर्गतागतः^२ श्वासः ॥१०
किञ्च,
जरठलवलीपाण्डुक्षामं^३ जटालशिरोरुहं,

एतद्वदनचन्द्रावलोकनेन—एतस्याः चन्द्रकलायाः वदनचन्द्रस्य मुखचन्द्रस्य अवलोकनेन दर्शनेन, क्षयं—नाशम्, उपगतः—प्राप्तः । मदनशरसम्पातजनितः—मदनशरस्य कामवाणस्य सम्पातेन जनितः उत्पादितः ।

सन्ततं—सततम्, अन्तर्गतागतः—हृदयं गच्छति ततः आगच्छति च यः नादृशः श्वासः—प्राणवायुः, रहितप्रियप्रयोगं—बल्लभकृतमदनादिर्वर्जितं, निरस्तरागं—कस्तूरीचन्दनादिलेपरहितं, निरुपहारमपि—आमूषणशून्यमपि, स्तनयुगलं—कुचद्वन्द्वं, नर्तयति—कम्पयति ॥१०

जरठलवलीपाण्डुक्षामं—जीर्णलवलीलतावत् पाण्डु तथा दुर्बलं

राजा—[देखकर प्रसन्नतापूर्वक] इसके चन्द्रानन के दर्शनमात्र से क्षणभर में मेरे हृदय का सन्ताप नष्ट हो गया । [पुनः देखकर] कामदेव के तीखे वाणों से इसका हृदय क्यों सन्तप्त है ?

इसके दोनों स्तनों पर न तो (मृगमद की) रुचिकर पत्रकारी है, न चन्दन का लेप है और न हार ही यहाँ शोभित हो रहा है । उसको केवल (कामपीड़ा के कारण) हृदय से निरन्तर उठने वाला उच्छ्वास अपनी गति के कम्पन से नचा रहा है ॥१०

और भी—कस्तूरी, केशर, चन्दन आदि का लेप न लगने से रुख कपोल-वाली और अधखुली आँखों वाली यह मृगनयनी अपने शरीर को, जो पुरानी पड़ी लवली लता की तरह पीला तथा दुर्बल हो गया है और

१ निरुपहारमपि मू० पा० । २ अन्तर्गतागतः मू० पा० । ३ जरठलवलीपाण्डुक्षामो इति पाठान्तरम् ।

ललितनलिनीपत्रे गात्रं निवेश्य मृगीदृशा ।
मुकुलितदृशा रागोद्भेदं प्रभिन्नकपोलया,
स्तिमितमनसा धन्यः प्रेयान् क एष विचिन्त्यते ॥११

विदूषकः—भो वयस्य ! त्वां वर्जयित्वा कोऽन्य ईदृशानुरागबन्धः
शङ्कितव्य एतस्याः । न खलु कुसुमितं सहकारं वर्जयित्वा कलकण्ठी
अन्यम् अभिलषति । न वा चन्द्रं वर्जयित्वा चन्द्रिकाया अन्यतः
प्रसारः । (भो बअस्स ! तुमं बज्जिअ को अण्णो इरिसाणुराअणिबन्धणः
संकिदब्बो एदाए । ण क्खु कुसुमिदं सहआरं बज्जिअ कलकण्ठी अण्णं
अहिलसदि । ण वा चन्दं बज्जिअ चन्दिआए अण्णदो पसारो ।)

जटालशिरोरुहम्—अस्तव्यस्तकेशं, गात्रं—शरीरं, ललितनलिनीपत्रे
सुन्दरकमलनीदले, निवेश्य—स्थापयित्वा, मुकुलितदृशा—निमीलितनेत्रया
रागोद्भेदप्रभिन्नकपोलया—कुङ्कुमादिलेपाभावादशोभितकपोलवत्या, (अनया)
मृगीदृशा—हरिणाक्ष्या, स्तिमितमनसा—निश्चलचित्तेन-क एषः, धन्यः भाग्य
शाली, प्रेयान्—अतिप्रियः, विचिन्त्यते—ध्यायते । अत्र हरिणीच्छन्दः ॥११

वर्जयित्वा—त्यक्त्वा, ईदृशानुरागबन्धः—इदृशः अनुरागबन्धः—प्रेमबन्धनं
यस्मिन् तादृशः । कुसुमितं—पुष्पितं, सहकारम्—आम्रवृक्षम्, कलकण्ठी—
कोकिला, अभिलषति—वाञ्छति । चन्द्रिकायाः—कौमुद्याः, प्रसारः—गमनम् ।

जिसके बाल उरझ कर जटा बन गये हैं, कमल के कोमल पत्तों की शय्या
पर लिटाकर पीड़ित मन से किस भाग्यशाली प्रियतम का चिन्तन कर रही है ? ॥११

विदूषक—मित्र ! तुम्हारे अतिरिक्त और कौन है जो इससे अनुरागबद्ध
हो सकता है ? क्या संभव है कि कोयल पुष्पित आम्र को छोड़कर अन्य वृक्ष
की अभिलाषा करे ? चन्द्रमा के अतिरिक्त क्या अन्यत्र चन्द्रिका का प्रसार
संभव है ? कदापि नहीं ।

१ रागाद्भेदि मू० पा० ।

राजा—तत्क्षणमत्रैव लतान्तरितौ जानीवस्तावत् ।

[इत्युभौ लतान्तरितौ पश्यतः]

चन्द्रकला—[पुनर्निःस्वस्य, 'जइ बद्धो' इत्यादि पठित्वा अग्रतोऽवलोक्य—मातः कथमिदानीम् । (अब्बो ! कथं दाणिं ।)]

एकत्र प्रियविरहोऽन्यत्र एष समुदितश्चन्द्रः ।

घातस्योपरि घातो मय्येकत्र कृतो विधिना ॥१२

(एकतो पिअविरहो अण्णत्तो एस समुइओ चन्दो ।

घावअस्स उवरि^१ घाओ मइ एकत्तो किदो विहिणा ॥१२)

तदिदानीम् अमृतमयूखेन यथा दिक्षु पुनरपि एवं किरणजालं न विस्तारयते,^१ तथा विनिवेदयामि । (तादाणि अमिअमउहेण^२ जघा दुसु पुणोबि एदं करजाअं^३ण विस्थारि अदि तथा णिवेदेहिा ।)

एकत्र—एकतः, प्रियविरहः—प्रियेण कान्तेन विरहः वियोगः अन्यत्र—अन्यतः, एषः—अयं, चन्द्रः—चन्द्रमाः, समुदितः—सम्यक् उदयं प्राप्तः विधिना—द्वैतेन, मयि, एकत्र, घातस्य—प्रहारस्य, उपरि, घातः—प्रहारः कृतः—विहितः ॥१२

अमृतमयूखेन—चन्द्रेण, किरणजालं—किरणसमूहः, न विस्तारयते—न प्रसारयते विनिवेदयामि—निवेदनं करोमि ।

राजा—तो क्षण भर लता की ओट में होकर हम दोनों सत्यता का ज्ञान करें

[दोनों लता की ओट से देखते हैं]

चन्द्रकला—[सांस लेकर 'यदि दुर्लभजनं मे'.....इत्यादि कहती हुई सांमने देखकर] मातः ! इस समय किस प्रकार घँयं रखूं—

एक तो प्रिय का वियोग था ही, दूसरी ओर यह चन्द्रमा उदित हो गया । भाग्य एक ही समय चोट पर चोट देकर मुझे दूनी पीड़ा दे रहा है ॥१२

इसलिए अब मैं अमृतकिरण चन्द्रमा से प्रार्थना करूँगी कि वह किरण-जाल को दिशाओं में न फैलाये ।

१ विस्तारयति मू० पा० । २ अमिअमचिहेण मू० पा० । ३ करजाणं

[इति चन्द्रं प्रति साञ्जलिबद्धम्]

त्वया संह्रियते तमो गृह्यते सकलैस्ते पादः ।

वससि शिरसि पशुपतेः त्वं विधो ! स्त्रीजीवनं हरसि ॥१३

(तए संह्रिज्जई तमो गेह्ल्ई संअलेहिं दे पाओ ।

वससि सिरे पमुबईणो नुह बिहु इथ्थीजीबणं हरसि ॥१३)

तदिदानीं मेघान्तरेऽपि गोपयस्व आत्मानम् । अलमेतेन दुर्जनो-
चितेन आचरितेन । [सरोषम्] आः, कथम् अतिदीनतया मया एव-
मभ्यर्थितोऽपि पुनः पुनरपि वर्षसि मयि विषसंबलितं किरणजालम् ।
हुँ, जाने यत्किल बाह्यर्दाशितप्रसादानामपि कलुषितान्तराणां स्वभाव
एव एषः । (तादाणि मेहन्तरेवि गोतबसुअ अन्ताण । अलमेदिणा

त्वया—चन्द्रेण, तमः—अन्धकारः, संह्रियते—विनाश्यते, सकलैः—
समस्तैः (चराचरैः), ते—तव, पादः—किरणः, गृह्यते—धायंते च विधो—
चन्द्र ! त्वं पशुपतेः—शिवस्य, शिरसि—मूर्ध्नि, वससि—निवासं करोषि,
(तहि कथं) स्त्रीजीवनम्—अबलाप्राणान्, हरसि—नाशयसि ? ॥१३

मेघान्तरेऽपि, मेघमध्येऽपि आत्मानं—स्वं, गोपयस्व—आवृणु ।
दुर्जनोचितेन, दुष्टयोग्येन, आचरितेन—आचरणेन । सरोषम्—क्रोधसहितम्
अभ्यर्थितोऽपि—प्रार्थितोऽपि विषसंबलितं—विषाक्तम् । किल—प्रसिद्धार्थकमव्यय-

[हाथ जोड़कर चन्द्रमा के प्रति]

हे चन्द्रमा ! तुम अन्धकार का नाश करते हो, तुम्हारे किरण रूपी चरण
का लता-वनस्पति सभी स्वागत करते हैं । यहाँ तक कि तुम पशुपति शिव के
सिर पर निवास करते हो । तुम्हारी जहाँ इतनी महिमा है वहीं यह तुच्छ काम
क्यों करते हो कि मुझ अबला स्त्री के प्राण ले रहे हो ॥१३ ।

तो अब स्वयं को वादलों में छिपा लो । दुर्जनों की भाँति यह आचरण
अब बंद कर दो । [रोष से] बड़ी दीनता के साथ मैंने तुमसे प्रार्थना की तो भी
तुम बार-बार इन विषमयी किरणों की वर्षा मेरे ऊपर कर ही रहे हो !

दुज्जणोद्देण आअरिदेण । [सरोषम्] आः, कथं अदिदीणदाए भए एवं अअस्थिदोबि पुणो पुणोबि बरिससि मयि बिससब्बलिदं किरणजालम् । [विचित्त्य] हूँ, जाणे जं किल बाहिरदंसिदप्प-सादाणं किलुसिदन्तराणं सभावोज्जेब एसो ।)

[आकाशे अञ्जलिं बद्ध्वा]

हं हो, कुसुमायुधलीलामात्रवशीकृताशेषलोकमहाराजचित्ररथ इव कथमतिदीनायां मयि एवं निष्करुणो भूत्वा पुनः पुनर्विक्षिपसि विशिखजालम् । (हं हो, कुसुमाओहलिलामेत्त वसाकिदासेसलोअमहाराज-चित्तरथो विअ कथं अदिदीणाए मइ एवं णिक्करिणो भविअ पुणो-पुणो विविखवसि^१ विसिहजालम् ।)

विदूषकः—भो वयस्य ! शृणु तावत् शृणु तावत्^२ । कथं न सम्भावयसि आत्मनिर्बन्धमेतस्या अनुरागबन्धम् । भो बअस्स,

मेतत् । बाह्यदर्शितप्रसादानाम्-बाह्यतः दर्शितः प्रसादः-प्रसन्नता यैः तादृशानां, कलुषितान्तराणां—मलिनचित्तवृत्तीनां (जनानाम्) । हं हो—सम्बोधनार्थकमव्ययमेतत्, कुसुमायुधलीलामात्रवशीकृताशेषलोकमहाराजचित्ररथः—कुसुमायुधः कन्दर्पः इव लीलामात्रेण अनायासेन वशीकृतः अधीनीकृतः अशेषलोकः सम्पूर्णलोकः येन तादृशो महाराजः चित्ररथः, निष्करुणः—निर्दयः, विशिखजालं—किरणसमूहम् । एतस्याः—चन्द्रकलायाः, आत्मनिर्बन्धं—स्वनिष्ठम्, अनुरागबन्धं—प्रेमबन्धनं, कथं, न सम्भावयसि—न सम्मानयसि ?

[सोचकर] अच्छा मैंने समझा—कलुषित अन्तःकरण वालों का यह स्वभाव ही है कि वे बाह्य रूप में ही केवल प्रसन्न होते हैं ।

[आकाश की ओर हाथों को जोड़कर]

अरे, क्यों तुम भी कामदेव की तरह लीलामात्र से सम्पूर्ण लोक को बश में करने वाले महाराज चित्ररथ की भाँति मुझ असहाय पर निर्दयतापूर्वक बाण मार रहे हो ?

विदूषक—मित्र ! सुनो सुनो । तुम इसके अनुराग को, जो तुममें अनुरक्त है

सुण दाब, सुण दाब^१ । कधं ण सम्भावेसि अप्पणिबन्धणं एदाए अणु-
राअबन्धम् ।)

राजा—[सहर्षम्] सखे ! शृणु तावत्—
एकातपत्नं वसुधाधिपत्य^२ -
मैन्द्रं पदं वाऽमरवृन्दवन्द्यम् ।
मनोरथोऽध्यासितुमुत्सहेत
न चेदृशश्चारुदृशोऽनुरागः ॥१४

चन्द्रकला—[विचिन्त्य] कथमेतावन्तं कालं विलम्बते दीर्घिका-
सु नलिनीदलमृणालानि आनेतुं गता मे प्रियसखी सुनन्दना । (कधं
एत्तिकं कालं बिलम्बेदि दीहिआदो णलणीदल^३ मूणालाई^४ आणीदुं गदा
मे पिअसहि सुणन्दणा ।)

एकातपत्नम्—एकच्छत्रं, वसुधाधिपत्यं—पृथ्वीसाम्राज्यं, वा—
अथवा, अमरवृन्दवन्द्यम्—देवसमूहवन्दनीयम्, ऐन्द्रं पदं—देवराज-
पदं, (मे) मनोरथः—अभिलाषः, अध्यासितुम्—उपवेष्टुं न उत्सहेत—
न उत्साहं कुर्यात्, (चेत्) ईदृशः चारुदृशः—शोभनाक्ष्याः, अनुरागः—प्रेम
(लभ्येत) अत्र उपजातिच्छन्दः । १४

दीर्घिकासुनलिनीदलमृणालानि—वापीतः कमलिनीपत्राणि विसानि च ।

क्यों नहीं स्वीकार करते हो ?

राजा—[हर्ष के साथ] मित्र ! तो फिर सुनो—

एकच्छत्र पृथिवी का साम्राज्य, यहाँ तक कि देवसमूहों द्वारा वन्दित इन्द्र-पद
पर भी मेरा मनोरथ बैठना नहीं चाहता यदि ऐसी मोहक चितवन वाली का
यह अनुराग प्राप्त हो सके । १४

चन्द्रकला—[सोचकर] क्या कारण है कि सरोवर से कमलिनीपत्र और
मृणाल लाने के लिये गयी हुई मेरी सखी सुनन्दना इतना विलम्ब कर रही है ?

१ सुगुदाव मू० पा० । २ वसुधाधिपत्व मू० पा० । ३ दोणलणीदमूलणाई
मू० पा० । ४ अत्र दीहिआसुणलिणिदलमूलाणाई इति पाठस्तुचितः ।

[प्रविश्य सुनन्दना^१]

सुनन्दना—सखि ! एतानि नलिनीदलमृणालानि उपशमयन्तु ते हृदयसन्तापम् । (हला, एदाई णलिणीदलमूणालाई^२ उबसमावेदु दे हिअअसंदबम्)

चन्द्रकला—सखि ! अलमिदानीमेतैः । पुनः पुनरपि अङ्गेषु हलाहलं वर्षतोऽमुष्माद् दुष्टरजनीकरात् रक्षयितुमशरणाहं^३ प्रियसखि ! (हला ! अलं दाणि एदेहिं । पुणो पुणोवि अङ्गेषु हलाहलं बरिसन्तो ईमादो दुठ्ठरअणीअरादो रख्खिजुदु^४ असरणा अहं पिअसहिए ।)

[इति मूर्च्छिता पतति]

राजा—[ससम्भ्रममुपसृत्य] प्रिये ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि । तवाननसुधाधामजितः कलुषितान्तरः ।

उपशमयन्तु—शान्तं कुर्वन्तु । हलाहलं—विषम्, दुष्टरजनीकरात्—दुष्टचन्द्रात्, अशरणा—रक्षितुरहिता ।

देवि—प्रिये !, तवाननसुधाधामजितः—तव मुखचन्द्रेण पराजितः, कलुषितान्तरः—मलिनचित्तः, एषः—दृश्यमानः, रजनीकरः—चन्द्रः,

[सुनन्दना प्रवेश करके]

सुनन्दना—सखी ! ये कमलिनीपत्र और मृणाल तुम्हारे हृदय के सन्ताप को शान्त करें ।

चन्द्रकला—सखि ! अब यह सब व्यर्थ है । यह दुष्ट चन्द्रमा अपनी किरणों से बार-बार जो विष मेरे ऊपर बरसा रहा है, उससे मैं रक्षा करने में असमर्थ होकर असहाय हो गई हूँ, प्रिय सखी ! ।

[कहती हुई मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है]

राजा—[शीघ्रता से समीप पहुँचकर] प्रिये ! धीरज रखो, धीरज रखो । तुम्हारे मुखचन्द्र से पराजित होने के कारण हृदय में द्वेष भर-

१ सुनन्दना म० पा० । २ मूलाई म० पा० । ३ करादरक्षे इहं अशरणा म० पा० । ४ असरजिबुदु म० पा० ।

दहत्यतिशयं देवि ! त्वामेष रजनीकरः ॥१५

सुनन्दना—[विलोक्य सानन्दम्] दिष्ट्या वर्धे । भर्तः^१ ! इयं^२ खलु स्वभावतः नवमालिकाकुसुमपरिपेलवा त्वत्^३ कृतविरहवेदनानिः-सहा जन्मतः प्रभृति अननुभूत^४ दुःखसागरनिमग्ना तपस्विनी मे प्रिय-सखी चन्द्रकला प्रभवति न इदानीम् आत्मनोऽङ्गेषु । तत्करे गृहीत्वा उत्थापयन्तु^५ तावदेनाम् । (दिष्टिआ वत्सेमि । भट्टा ! ईअं कखु सभा-बदो णोमालिआकुसुमपरिपेलवा तुहकिदविरहवेदणाणीसहा जन्मदो पहुदि अणणुभूददुःखसाअरणिमग्णा तवस्सिणी मे पिअसही चन्दअला प्पभवदि ण दाणि अत्तणो अङ्गेसु । ता करे गेल्लिअ उत्थावेदिअ दाबणं ।)

त्वां—भवतीम्, अतिशयम्—अत्यन्तं यथा स्यात् तथा, दहति—भस्मीक-रोति । १५

दिष्ट्या वर्धे—अहो भाग्यमित्यर्थः । इयं—चन्द्रकला, स्वभावतः—प्रकृत्या, नवमालिकाकुसुमपरिपेलवा—नवमल्लिकापुष्पवत् कोमला, त्वत्कृत—विरहवेदनानिःसहा—त्वद्वियोगवेदनां सोढुमसमर्था, जन्मतः प्रभृति—जन्मतःआरभ्य, अननुभूतदुःखसागरनिमग्ना—अननुभूतदुःखरूपे समुद्रे पतिता, तपस्विनी—वराकी चन्द्रकला, आत्मनोऽङ्गेषु न प्रभवति—स्वाङ्गानि धारयितुमक्षमेत्यर्थः ।

कर चन्द्रमा हे देवि ! तुम्हें पूरी तरह से जला रहा है । १५

सुनन्दना—[देखकर आनन्द के साथ] मैं बड़ी भाग्यशालिनी हूँ । महाराज ! मेरी सखी यह चन्द्रकला, जो स्वभाव से ही नवमल्लिका के कुसुमों की भाँति कोमल है, आपके वियोग-शोक को सहन करने में असमर्थ हो गई हैं । क्योंकि जन्म से अब तक इस प्रकार की वेदना का अनुभव उसने कभी नहीं किया था । इस अननुभूत दुःख-सागर में निमग्न बेचारी मेरी प्रियसखी चन्द्रकला अपने अङ्गों पर भी अधिकार नहीं रख पा रही हैं । अतएव आप हाथ पकड़कर उसे उठाइए ।

१ भर्तृ मू० पा० । २ इमं मू० पा० । ३ तवकृतविरहवेदनानिःसहा मू० पा० । ४ तदनुभूत मू० पा० । ५ उत्थापय मू० पा० ।

[इत्युक्त्वा निर्गच्छति]

राजा—इदमेवोचितमिदानीम् । [इति करे धृत्वा चन्द्रकला
मुत्थापयन् स्पर्शसुखमभिनीय] अहो कथमिदानीम्—

करपल्लवसङ्गनेन सममेव मृगीदृशः ।

निमग्नमिव मे स्वान्तमुदन्वति सुधामये ॥१६

[प्रविश्यापटीक्षेपेण सम्भ्रान्ता सुनन्दना]

सुनन्दना—सखि चन्द्रकले ! त्वरितम् एह्योहि । इयं खलु देवी
महाराजं निहततरक्षुवरं श्रुत्वा गृहीतार्था सपरिवारा इत आगच्छति ।
हला चन्दअले ! तुरिदं एहि, एहि । इयं क्व देवी महाराजं
णिहददरक्खुवरं सुणिअ गिहिदअण्णा सवरिवारा इध आअच्छदि ।)

मृगीदृशः—मृगनयनायाः (चन्द्रकलायाः) करपल्लवसङ्गनेन—
किसलयवत् कोमलहस्तस्पर्शेन, सममेव— साकमेव, सुधामये—अमृतमये,
उदन्वति—समुद्रे, मे—मम, स्वान्तं—हृदयं, निमग्नमिव मग्नमिव
(भाति) १५

निहततरक्षुवरम्—निहतः व्यापादितः तरक्षुवरः व्याघ्रश्रेष्ठो येन
तादृशं, महाराजं, गृहीतार्था—गृहीतः हस्ते घृतः अर्घः पूजार्थमाहृतं
दूर्वादुग्धाक्षतमिश्रितजलं यया तादृशी, सपरिवारा—परिजनसहिता ।

[कहकर चली जाती है ।]

राजा—इस समय यही उचित है । [कहता हुआ हाथ पकड़कर चन्द्रकला
को उठाता है और स्पर्शजनित सुख का अभिनय करके] अहा ! कैसे इस समय—

इस मृगनयनी के कर-पल्लव के स्पर्श के साथ ही ऐसा मालूम पड़ता है कि
मेरा हृदय सुधा के समुद्र में डूब गया है ॥१६

[परदा उठाकर सुनन्दना प्रवेश करती है]

सुनन्दना—प्रिय सखी चन्द्रकले ! शीघ्र चलो । यह जानकर कि महाराज
ने लकड़बघे को मार डाला है, उन्हें सम्मान देने के लिए ये महारानी अपनी
सभी परिचारिकाओं के साथ इधर ही आ रही हैं ।

[सर्वा ससम्भ्रमं परिक्रामन्ति^१] चन्द्रकला कतिचित् पदानि गत्वा सोद्वेगं दीर्घं निःश्वस्य परावृत्यैव^२ राजानमवलोकयन्ती भूमौ पतति]

सुनन्दना—[ससम्भ्रममुत्थाप्य] सखि ! त्वरितमेह्येहि ।
(हला ! तुरिदं एहि, एहि)

[इति निष्क्रान्ता]

राजा—[अग्रतोऽवलोक्य ससम्भ्रमम्] सखे ! इयमङ्गुलिभ्रष्टा चन्द्रकलाया मणिमुद्रिका, तदिदानीमिमामञ्चले बद्ध्वा^३ गोपयतु,^४ भवान् ।

[विदूषकः तथा करोति]

(ततः प्रविशति सार्धंपात्रपरिवारा देवी रतिकला च)

अङ्गुलिभ्रष्टा—अङ्गुलितः च्युता, मणिमुद्रिका—मणिनिर्मिताङ्गुलीयकम् ।

सभी घबड़ाहट के साथ घूम जाती हैं और चन्द्रकला कुछ कदम चलकर उद्वेग से लम्बी सांस खींचकर, पीछे की ओर लौटती हुई, राजा की ओर दृष्टि लगाये भूमि पर गिर पड़ती है ।]

सुनन्दना—[शीघ्रता के साथ उसे उठाकर] सखी ! शीघ्र आओ, शीघ्र ।

[कहकर चली जाती है]

राजा—[सामने देखकर उतावली में] मित्र ! यह मणिमुद्रिका चन्द्रकला की उँगली से निकलकर गिर पड़ी है तुम उसे अपने वस्त्रांचल में बांधकर छिपाये रखो ।

[विदूषक उसी प्रकार करता है]

[इसके पश्चात् पूजन के लिए अर्घ्यपात्र तथा परिचारिकाओं को साथ लिए महारानी और रतिकला प्रवेश करती हैं ।]

१ परिक्रामति मू० पा० । २ परावृत्यैव मू० पा० । ३ वध्या मू० पा० ।
४ गोपयितु मू० पा० ।

देवी—सखि रतिकले ! तादृशोऽपि तरक्षुर्यमगृहं प्रापित आर्य-
पुत्रेण । (हला रतिबले ! तादिसोबि तरक्खु जमघरं पाविदो अज्ज-
उत्तेण ।)

रतिकला—सखि ! निरुपमधनुर्विद्यालघुकृतभीमानुजस्य तव वल्ल-
भस्य पुनः कीदृश एष तरक्षुः ! (हला, णिरुवमधनुबिब्ज्जलहुकिद-
भीमाणुअस्स तुह वल्लहस्स पुणो कीदिसोएसो तरक्खु !)

देवी—चेटि माधविके ! दर्शय मार्गम् आर्यपुत्रस्य समीपगमनाय ।
(हंजे माधवीए ! दंसेहि मगं अज्जउत्तस्स समीवगमणाअ^१ ।)

चेटी—भट्टिनि ! यथा एष दक्षिणप्रदेशात् निरुपमो मकरन्द-
परिमल^२ आगच्छति, तथा तर्कयामि इत एव अदूरस्थिते अशोकमण्डपे
भविष्यति भर्ता । (भट्टिठणि ! जघा एसो दक्किणएदेसादो णिरुवमो
मअरन्दपरिमलो आअच्छदि तघा तक्केमि इधज्जेव अदूरट्टिदे असो-
अमण्डवे भविस्सदि भट्टा ।)

धमगृहं प्रापितः—यमालयं नीतः मारित इत्यर्थः । निरुपमधनुर्विद्यालघुकृतभी-
मानुजस्य—धनुर्विद्यायां लघुकृतः तुच्छीकृतः भीमानुजः अर्जुनः येन
सादृशस्य अतएव अद्वितीयस्य, तव वल्लभस्य—त्रव कान्तस्य । मकरन्दपरिमलः
सहकारसौरभम् ।

देवी—सखी रतिकला ! उस प्रकार का भी भयकर लकड़बग्घा महाराज
द्वारा मार डाला गया ?

रतिकला—सखी ! अद्वितीय तथा धनुर्विद्या में अर्जुन को भी मात करने
वाले तुम्हारे स्वामी के लिए यह लकड़बग्घा क्या चीज था ? कुछ नहीं ।

देवी—चेटी माधविका ! आर्यपुत्र के समीप जाने का मार्ग दिखाओ ।

चेटी—स्वामिनि ! जो यह अनुपम मकरन्द की सुगन्ध दक्षिण प्रदेश से
आ रही है, मैं सोचती हूँ कि थोड़ी दूर पर अशोक-मण्डप के तले
महाराज होंगे ।

देवी—तद्दर्शय मार्गम् । (ता दंसेहि मगं ।)

चेटी—एतु, एतु, भट्टिनि^१ ! (एदु, एदु, भट्टिणी ।)

[इति सर्वाः परिक्रामन्ति]

रतिकला—[अग्रतः पन्थानं निरूप्य साशङ्कम्] सखि ! यथा इह अभिनवसुलक्षणाया^२ कस्या इव पदपद्धतिर्दृश्यते, तथा तर्कयामि त्वां गोपयन् भर्ता कस्या अपि कामिन्या आसक्तो वर्तते । (हला ! जघा इह अभिनवसुलक्षणाए का एबिअ पदपद्धती दीसदि तघा तक्केमि तुमं गोवेत्तो भट्टा का एबि कामिणीए आसक्तो बट्टदि ।)

देवी—[सरोषमिव] सखि ! कथं त्वया ईदृशापि^३ खलवचसा अविचारितेन आचक्ष्यते^४ यया जन्मतः प्रभृति अक्षुण्णतादृशानुरागस्य

पन्थानं—मार्गं, निरूप्य—सम्यग्दृष्ट्वा, साशङ्कम्—आशङ्कया सन्देहेन सहितम् । अभिनवसुलक्षणायाः—सामुद्रिकशुभलक्षणसम्पन्नायाः नवयुवत्याः पदपद्धतिः—चरणचिह्नम् । तर्कयामि—अनुमिनोमि, कामिन्याः—रमण्याः (अत्र शेषत्वविवक्षया सप्तम्यर्थे षष्ठी) । खलवचसा—दुष्टवचनेन आचक्ष्यते—कथ्यते, अक्षुण्णतादृशानुरागस्य—अक्षुण्णः अप्रतिहतः तादृशः अनुरागः प्रेम यस्य तादृशस्य, अमनोवृत्तिसम्भावनीयः—मनसापि एवं न

देवी—तो मार्गं दिखाओ ।

चेटी—आइए, आइए स्वामिनी !

[सभी घूम जाती हैं]

रतिकला—[आगे मार्ग को देखकर शङ्कापूर्वक] सखी ! इधर तो किसी नवयुवती के पद-चिह्न पड़ रहे हैं । वह युवती अनेक शुभलक्षणों से युक्त है । मुझे शङ्का है कि महाराज तुमसे छिपाकर उसी प्रकार की युवती में आसक्त हो गये हैं ।

देवी—[क्रोध में] तुम इस प्रकार के दुर्वचन विना सोच-विचार के

१ भर्ता मू० पा० । २ अभिनवासुलक्षणायाः मू० पा० । ३ ईदृशोऽप० मू०

आर्यपुत्रस्यापि^१ ईदृज्ञोऽप्यमनोवृत्तिसम्भावनीयोऽतिक्रमो मम दुर्घट
उत्पाद्यते । (हला ! कथं तए ईदिसोबि खलवचसा अविआरिदेण
आचक्खोअदि । जाए जन्मदोपहुदि अक्खुचिदत्तादिसाणुराअस्स अज्ज
उत्तस्सबि^२ ईदिसोबि अमणोबित्तसम्भावणिज्जो अदिक्कमो मुह दुग्घड
उप्पडिअदि ।)

माधविका—पश्यतु, पश्यतु भट्टिनी । इहैवाशोकमण्डपे प्रियवयस्येन
समं किमपि किमपि^३ मन्त्रयमाणो वर्तते एष भर्ता । (पेक्खदु, पेक्खदु
भट्टिणी । । ईधज्जेव असोअमंडवे पिअवअस्सेण^४ समं किंपि किंपि
मन्तन्तो^५ बट्टदि एसो भट्टा ।)

[इत्यङ्गुल्या निर्दिशति]

देवी—[विलोक्य सानन्दम्] निहततादृशतरक्षोरेषोऽर्घ आर्य-
पुत्रस्य । (णिहदत्तादिसतक्खुणो एसो अगो अज्जउत्तस्स ।)

सम्भावनीय इति यावत्, अतिक्रमः—उल्लङ्घनम्, दुर्घटः—कदापि घटितुं
न योग्यः । मन्त्रयमाणः—परामर्शं कुर्वाणः ।

क्यों कह रही हो ? ऐसी कष्टदायक संभावना, जो तुम उत्पन्न करना चाहती हो
नितान्त असम्भव है ! क्योंकि प्रारम्भ से ही महाराज का मेरे प्रति अत्यन्त ही
दृढ़ अनुराग रहा है और वह उसी प्रकार का बना हुआ है । उनके अन्दर ऐसी
मनोवृत्ति की संभावना मेरे हृदय में हो ही नहीं सकती ।

माधविका—देखिए स्वामिनी ! देखिए—वास्तव में यहीं अशोक-मण्डप के
तले महाराज मित्र विदूषक के साथ कुछ मंत्रणा-सी करते हुए उपस्थित हैं ।

[कहती हुई अंगुली से संकेत करती हैं]

देवी—[देखकर प्रसन्नतापूर्वक] लकड़बग्घा के संहारक अपने पति के
लिए यह अर्घ्य है ।

१ आर्यपुत्रस्य मू० पा० । २ अज्जउत्तस्यवि मू० पा० । ३ एक एवं
'किमपि' मू० पा० । ४ पिअस्सेण मू० पा० । ५ मन्तन्तो मू० पा० ।

[इति राज्ञोऽर्घमुपनयति]

राजा—एह्ये हि । अत्रोपविश तावत् ।

देवी—[उपविशति]

राजा—प्रियेऽपराध्योऽस्मि भवत्याः । यतः—

भवतीं विनापि परितः प्रसरदमलरोहिणीरमणकिरणगणरमणीयाम् ।
संफुल्लमल्लिकापरिमलमिलदलिकुलमधुरभङ्गारमुखरिताशाम् ॥१७
केलिवनीमिमामध्यासीन एतावन्तं कलामनयम् १ ।

अपराध्यः—अपराद्धुं योग्यः अपराधीति यावत् ।

भवतीं—त्वां, विनापि—ऋतेऽपि, परितः—समान्ताद्, प्रसरद-
मलरोहिणीरमणकिरणगणरमणीयां—प्रसरद्भिः विस्तारमाप्नुवद्भिः रोहि-
णीरमणस्य चन्द्रस्य किरणगणैः रश्मिसमूहैः रमणीयां शोभनीयां, संफुल्लम-
ल्लिकापरिमलमिलदलिकुलमधुरभङ्गारमुखरिताशां—संफुल्लायाः विक-
सितायाः मल्लिकायाः मालत्याः परिमलेन सुगन्धेन मिलतां संगच्छताम् अलि-
कुलानां भ्रमरसमूहानां मधुरभङ्गारैः हृद्यगुञ्जारैः मुखरिताः शब्दिताः आशाः
दिशः यस्यां तादृशीम् ॥१७

इमां—दृश्यमानां केलिवनीं—क्रीडोद्यानम्, अध्यासीनः—उपविशन्, एता-
वन्तं, कालम् अनयम्—व्यत्यापयम् अहमिति शेषः ।

[कहकर राजा को अर्घ्य देती है]

राजा—आओ, आओ । यहाँ बैठो ।

[देवी बैठती है]

राजा—प्रिये ! मैं तुम्हारा अपराधी हूँ, क्योंकि—

मैंने तुम्हारे विना ही (अकेले), चारों ओर चन्द्रमा की फैलती हुई निर्मल
किरणों से रमणीय, भली-भाँति फूली हुई मल्लिका के परिमल से सराबोर भौरों
के मधुर गुंजार से मुखरित होती हुई दिशाओं वाले ॥१७

इस क्रीडा-उपवन में बैठकर इतना समय व्यतीत कर दिया ।

१ नेत्रं मु० पा० ।

सोहगमधिगदो मे कण्ठो । तादाणि ईमं अङ्गुलिं ईमिणा अङ्गुलि-
अएण अलंकरोम्मि । [इति चेलाञ्चलाच्चन्द्रकलामुद्रिकामादाया-
त्मनोऽङ्गुल्यां निवेश्य सगर्वमुरो विस्तीर्य अङ्गुलिं प्रसारयन् देवी-
परिचारिकां प्रति ।] दास्या दुहितरः ! प्रेक्षध्वं मे सुन्दरम् । (दासीए
दुहिदाए ! पेक्खध मे सुन्दरम् ।)

रतिकला—[विलोक्य जनान्तिकम्] सखि ! पूर्वं खलु त्वया
अहमसत्यभाषिणी खलेति बहु जल्पिता । पश्य, इदानीं कस्या इद-
मङ्गुलीयकम् (हला ! पुब्बं व्खु तए अहं असच्चभासिणी खलत्ति
बहु जल्पिता । पेक्ख दाणिं इदं अङ्गुलिअं ।)

देवी—[विलोक्य साशङ्कम्] ननु चन्द्रकलायाः ! (गं
चन्द्रकलाए !)

रतिकला—कोऽत्रापि संशयः ? (को एत्थ वि संसओ ?)

देवी—[दीर्घमुच्छ्वस्य]' अहो ? सर्वथा अविश्वसनीया एव

चेलाञ्चलात्—वस्त्रप्रान्तात्, निवेश्य—प्रवेश्य, सगर्व—आभिमानम्, उरः—वक्षः,
विस्तीर्य—प्रसार्य, देवीपरिचारिकां—देव्याः परिजनान् ।

असत्यभाषिणी—मिथ्यावादिनी, खला—दुष्टा, बहु—अधिकं यथा स्यात्
तथा, जल्पिता—उक्ता । अविश्वसनीयाः—विश्वासं कर्तुं न योग्याः । अतिदुर्विल

मानपूर्वकं छाती फुलाकर, अंगुली फँलाकर दिखाता हुआ देवी की परिचारिकाओं
से] दासी की लड़कियों ! मुझ सुन्दर को देखो ।

रतिकला—[देखकर, अलग] सखी ! इसके पहले तुमने असत्यभाषिणी
और दुष्टा कहकर मुझे डांटा था । देखो, अब यह किसकी अंगूठी है ?

देवी—[देखकर, शंका के साथ] निश्चय ही यह चन्द्रकला की है ।

रतिकला—इसमें भी कोई शंका है ।

देवी—[लंबी साँस लेकर] पुरुष सदा ही अविश्वसनीय हैं ।

पुरुषाः । सखि रतिकले ! त्वरितमेह्येहि^१ । क्षणमपि एतस्यातिदु-
 विलसितस्यान्तिके स्थातुं न युज्यते । (अहो ! सब्बधा अबिस्सस-
 णीआ ज्जेव पुरुसा । हला रदिअले ! तुरिदं एहि, एहि । खणं वि
 एदस्स अदिदुब्बिलसिदस्स अन्तिए ठ्ठादुं ण जुज्जदि ।)

[इति सत्वरमुत्थाय गच्छन्ती^२]

राजा—[ससम्भ्रममुत्थायोपसृत्य करे धृत्वा]

अभिज्ञा नैव त्वं शशिमुखि ! विधातुं मयि रुषं
 विना च त्वां काचिन्नहि मदनुरागस्य विषयः ।
 तथापि क्षामाङ्गि ! स्फुरदधरविम्बं सपदि मा—
 मनाममन्त्र्यैव त्वं ब्रजसि कथमित्थं कथय मे ॥१८

अतिदुर्विलसितस्य—उच्छ्रंखलस्य, अन्तिके—समीपे, स्थातुं न युज्यते—
 अवस्थानमनुचितमित्यर्थः । उपसृत्य—समीपं गत्वा ।

शशिमुखि—हे चन्द्रमुखि ! मयि रुषं—क्रोधं, विधातुं—कर्तुं, त्वं,
 नैव, अभिज्ञा—ज्ञात्री च त्वां विना, काचित्, मदनुरागस्य—मत्प्रेम्णः
 विषयः—इन्द्रियार्थः नहि (वर्तते) ,तथापि, क्षामाङ्गि—हे कृशाङ्गि !,
 त्वं माम्, अनामन्त्र्यैव—अपृष्ट्वैव—सपदि—शीघ्रं—स्फुरदधरविम्बं—
 स्फुरन् अधरविम्बः ओष्ठविम्बो यस्मिन् तत् यथा स्यात् तथा कथम्, इत्थं,
 ब्रजसि—गच्छसि ? मे—मह्यं कथय—ब्रूहि । अत्र शिखरिणीच्छन्दः ॥१८

सखी रतिकला ! शीघ्र आओ क्षण भर भी अब इस उच्छ्रंखल के पास बैठना
 उचित नहीं है ।

[कहकर शीघ्रता से उठकर जाने लगती है ।]

राजा—[हड़बड़ी से उठकर पास जाकर रानी का हाथ पकड़कर]

हे चन्द्रमुखी ! तुम मुझ पर क्रोध करना तो जानती ही नहीं हो, और
 तुम्हारे विना मेरे प्रेम का विषय (प्रेमपात्र) दूसरी कोई (स्त्री) है नहीं । तो भी
 हे तन्वंगी ! विना मुझसे विदा लिये, अधरविम्ब को फड़काती हुई तुम इस
 प्रकार तुरन्त क्यों जा रही हो ? मुझे बताओ ॥१८

१ अत्र 'त्वरितम्' मू० पा० नास्ति । २ गच्छन्ति मू० पा० ।

[इति राज्ञो हस्तमुत्क्षिप्य सत्वरं सपरिवारा निष्क्रान्ता]
 विदूषकः—[राजानमुपसृत्य] भो वयस्य ! किमिति देवी तवापि
 करं विक्षिप्य^१ इत्थं शीघ्रगत्या चलिता ? (भो बअस्स ? किन्ति
 देवी तुह् वि करं विक्खिबिअ इत्थं सिग्घगदीए चलिदा ?)

राजा—त्वत्कृतेनैव ।

विदूषकः—[सरोषम्] किम्मया कृतम् ? (किम्मए किदं ?)

राजा—यतः परमकरणीयं नास्ति ।

विदूषकः—अहो^२ ! किं तत् ? (अब्बो ! किं तं ?)

राजा—इदमेव चन्द्रकलाङ्गुलीयकदर्शनम् ।

विदूषकः—[दन्तैर्जिह्वामापीड्य] अपि तावत् कथं ताः दासी-
 दुहितरः प्रेक्ष्य इत्थमुपगतो मां चित्तसंमोहः । तदिदानीम् एतु-

उत्क्षिप्य—दूरे कृत्वा, सत्वरं शीघ्रं । विक्षिप्य—पृथक्कृत्य, चलिता—
 प्रस्थिता । अकरणीयम्—अकर्तव्यम् । आपीड्य—पीडयित्वा । प्रेक्ष्य—
 अवलोक्य । चित्तसंमोहः चित्तविह्वलता, उपगतः—प्राप्तः ।

[देवी राजा के हाथों को दूर हटाकर शीघ्रता से परिचारिकाओं के सहित
 चली जाती है]

विदूषक—[राजा के पास पहुँचकर] हे मित्र ! देवी यह क्यों तुम्हारे हाथों
 को भी हटाकर, इस प्रकार शीघ्रतापूर्वक चली गई ?

राजा—केवल तुम्हारे कृत्यों के कारण ।

विदूषक—[क्रोध के साथ] मैंने क्या किया ?

राजा—जिससे बढ़कर अनुचित काम नहीं होता (वही तुमने किया है) ।

विदूषक—ओह ! वह क्या ?

राजा—यही चन्द्रकला की अंगूठी का दिखा देना ।

विदूषक—[दाँतों से जीभ दवाकर] खेद है, उन दासी-पुत्रियों को देख-
 कर पता नहीं क्यों मेरा चित पागल सा हो गया । अस्तु, प्रियमित्र आओ

१ विनिक्षिप्य मू० पा० । २ मातः मू० पा० ।

एतु प्रियवयस्यः ! यथा देवी प्रसादं गच्छति,^१ यथा च तव चन्द्रकलया पुनः समागमो भवति, तथाऽहमेव सम्पादयिष्यामि । (अबिदाव कधं ताओ दासीदुहिदाओ इत्थमुवगदो मं चित्त संमोहो ! तादाणि एदु एदु पिअवअस्सो । जघा देवी प्पसादं गच्छदी, जघा अ तुह चन्द-अलाए पुणोवि समाअमो होदि, तघा अहंज्जेव संपादइस्सं ।)

राजा—तत्किमधुना विधेयम् ?

विदूषकः—भो वयस्य ! तदिदानीं पुरतः देवीमेव प्रसादयावः^२ (भो बअस्स ! तादाणि पुरदो देवीं ज्जेव पसादेम्बः ।)

[निष्क्रान्ताः सर्वे]

इति द्वितीयोऽङ्कः

समागमः—सम्मेलनं, सम्पादयिष्यामि—निष्पन्नं करिष्यामि । विधेयं—कर्तव्यम् ।

पुरतः—प्रथमं, प्रसादयावः—प्रसन्नां करिष्यावः ।

आओ । देवी कैसे प्रसन्न हो, चन्द्रकला के साथ तुम्हारा कैसे समागम हो यह सब मैं ही सम्पन्न करूँगा ।

राजा—अब क्या करना चाहिए ?

विदूषक—मित्र ! सब से पहले देवी को प्रसन्न किया जाय ।

[सभी चले जाते हैं ।]

दूसरा अङ्क समाप्त

१ प्रसाद गच्छति मू० पा० ॥ २ अयं मू० पा० नास्ति ॥

तृतीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति विदूषकः]

विदूषकः—ही-ही भोः ! अद्य खलु मया तथा वञ्चकत्वेन तथा कृतापराधेऽपि प्रियवयस्ये प्रसादं गमिता प्रकृतिसुकुमारहृदया देवी । तथा एव इदानीं चन्द्रकला अविदितदोषायाः सुनन्दनाया गृहे गोपितेति कथितं मे सुनन्दनया^१ । [विचिन्त्य] तदिदानीं विरहावस्थाव्याकुलीकृतस्य प्रियवयस्यस्य एतया सङ्गमे महाक्लेशो लघूकृतो देव्या^२ । अपि च मन्त्रितं च मया सह सुनन्दनया अद्य निशायां चन्द्रकलां प्रच्छन्नरूपां केलिवनमध्ये^३ प्रवेश्य प्रियवयस्येन समम्, अस्याः सङ्गमो विधीयते^४ । (ही-ही भोः ! अज्ज वखु मए तघा बंचअत्ते ण तघा किदापराधेवि पिअबअस्से पसादं गमिदा पउदिसुउमारहिअआ देवी । ता एवं दाणिं चन्द्रकला अविदिददोसाए सुणन्दणाए^३ घरे गोविदत्ति कधिदं मे सुणन्दणाए । [विचिन्त्य] तादाणिं बिरहावस्थाबाउलीकिदस्स पिअबअस्सस्स एदाए सङ्गमे महकिलेसो लहूकिदो देवीए । अबिअ

वञ्चकत्वेन—प्रतारकत्वेन, कृतापराधेऽपि—कृतः अपराधः येन तादृशेऽपि, प्रसादं—प्रसन्नतां, गमिता—प्रापिता प्रकृतिसुकुमारहृदया—प्रकृत्या स्वभावेन सुकुमारं कोमलं हृदयं यस्याः तादृशी । अविदितदोषायाः—अविदितः अज्ञातः दोषः अपराधो यस्याः तादृशः, गोपिता—रक्षिता । विरहावस्थाव्याकुलीकृतस्य—वियोगावस्थया दुःखाकृतस्य, महाक्लेशः—महत्कष्टं, लघूकृतः—अल्पीकृतः । मन्त्रितम्—परामर्शः कृतः, निशायां—रात्रौ प्रच्छन्नरूपां—गोपि-

[इसके बाद विदूषक प्रवेश करता है]

विदूषक—अहाहा ! आज मेरी चतुरता से, वैसा अपराध करने पर भी मेरे मित्र से, स्वभावतः कोमल हृदय वाली महारानी प्रसन्न हो गई । मुझे सुनन्दना से मालूम है कि चन्द्रकला उसी के घर में छिपायी गई है और उसका यह अपराध महारानी नहीं जानती है । (सोचकर) ऐसी स्थिति में तो अब उस चन्द्रकला के वियोग से व्याकुल मेरे मित्र की आकुलता को स्वयं महारानी

१ अयं मू० पा० नास्ति० । २ देव्याः मू० पा० । ३ केवलं 'मध्ये' मू० पा०

४ एषा सङ्गमयितव्या इति मू० पा० ।

मन्तिदं अ मए सह सुणन्दणाए अजु णिसाए चन्दअला पछन्नरूवां केलि-
बिण^४ अन्तरे पबिसिअ पिअबअस्सेण समं एसा सङ्गमा विदद्वन्ति ।)

तद्यदीदानीम् एनं वृत्तान्तं देवी न जानाति^१ तत्सफलो
भविष्यति मे सकलः^२ प्रयासः । [विचिन्त्य] अपि तावत्
एनं वृत्तान्तं रक्षता मया कियन्तं कालं जिह्वायन्त्रणा अनुभूयते ।
[पुरोऽवलोक्य] कां एषा ? देवी परिचारिका माघविकेव दृश्यते ।
ताजदा दार्णि एदं सुबुत्तन्तं देवी ण जाणादि ता सभलो भविस्सदि मे
सअलो पआसो । [विचिन्त्य] अबि दाव एदं बुत्तन्तं रक्खन्तेण मए
केन्तिकं कालं जीहाजत्तणा अणुभवीअदि^५ । [पुरोऽवलोक्य] का
एसा ? देवी परिवारिआ माघविआबिअ दीसदि ।)

तादृर्कित, केलिवनमध्ये—क्रीडोपवने इति यावत्, प्रियवयस्येन—प्रियमित्रेण
समं—साकं, सङ्गमः—समागमः, विधीयते—क्रियते ।

वृत्तान्तं—समाचारं, सकलः—सम्पूर्णः, प्रयासः—प्रयत्नः । जिह्वायन्त्रणा-
अकथनप्रयुक्तं जिह्वाकण्ठम् ।

वे ही अल्प कर दिया । तथा सुनन्दना के साथ मैंने मन्त्रणा भी की है कि आज
रात्रि के समय चन्द्रकला को गोपनीय ढंग से केलिवन में उपस्थित करके
प्रियवयस्य का संगम उसके साथ करा दिया जाय ।

यदि यह समस्त वृत्तान्त महारानी न जान पाएँ तभी मेरा प्रयास सफल हो
सकेगा । [सोचकर] मैं स्वयं इस वृत्तान्त को गुप्त रखने के लिए कितने समय
से अपनी जवान पर नियन्त्रण रखकर कण्ठ का अनुभव कर रहा हूँ ।
[सामने देखकर] यह कौन है ? महारानी की परिचारिका माघविका प्रतीत
हो रही है ।

१ जाति म० पा० । २ सेकलः म० पा० । ३ सणन्दणाए म० पा० ।

४ छयं म० पा० । ५ अणुभवीअदि म० पा० । Digitized by eGangotri

[ततः प्रविशति माघविका]

[विदूषकः विलोक्य करेण मुखमाच्छादयति^१]

माघविका—[विलोक्य] मातः ! कुतः एष वृद्धब्राह्मणो मां प्रेक्ष्य पुनः पुनर्वदनम् आच्छादयति^२ ? तत् पृच्छामि । [इत्युपसृत्य] आर्य ! वन्दे । (अम्मो, कुदो एसो बुद्धवम्भणो मं पेक्खिअ पुणो पुणो वदणं ढिक्कदि ? ता^३ पुच्छामि । [इत्युपसृत्य] अज्ज ! वन्दामि ।)

[विदूषकः पुनः करोति]

माघविका—आर्य ! किमेवं वदनम् आच्छाद्यते^४ ? (अज्ज^५ ! किमेवं बअणं^६ ढिक्किअदि^७ ?

[विदूषकः पुनस्तथा करोति]

माघविका—[अञ्जलिं बद्ध्वा] प्रसीदतु मे आर्यः । न गोपयतु

करेण—हस्तेन, आच्छादयति—आवृणोति । प्रेक्ष्य—दृष्ट्वा, वदनम्—मुखम् । रहस्यं—गुप्तभेदं, न गोपयतु—न अन्तर्हितं करोतु । गमंदास्या—

[इसके बाद माघविका प्रवेश करती है ।]

[विदूषक उसे देखकर अपने हाथों से मुंह ढक लेता है]

माघविका—[देखकर] मां ! यह वृद्ध ब्राह्मण मुझे देखकर अपना मुंह क्यों बार-बार ढक रहा है ? अच्छा मैं पूछती हूँ । [समीप पहुँचकर] आर्य ! प्रणाम ।

[विदूषक पुनः अपना मुंह ढकता है]

माघविका—आर्य ! इस प्रकार मुंह क्यों ढक रहे हैं ?]

[विदूषक पुनः उसी प्रकार ढकता है]

माघविका—[हाथ जोड़कर] आर्य मुझ पर प्रसन्न हों । रहस्य न छिपाएँ ।

१ आच्छादयति मू० पा० । २ ढौकते मू० पा० । ३ अ मू० पा० । ४ ढौकते मू० पा० । ५ अज्ज मू० पा० । ६ बअणं मू० पा० । ७ ढिक्किअदि मू० पा० ।

रहस्यम् । (पसीददु मे^१ अज्जो । ण गोबियदु रहस्सम् ।)

विदूषकः—भवतु, तत्, कोऽपि न जानातु । एवमिव । (भोदु, ता कोवि ण जाणादु । एवं विअ ।)

[इति कर्णे कथयति]

माधविका—[स्वगतम्] अहो, साहसो वृद्धब्राह्मणस्य ! तया पुनर्गर्भदास्या सुनन्दनया कथमेवं दुष्करमाचक्ष्यते ? तद्देवीं निवेद्य प्रसादं लप्स्ये^२ । [प्रकाशम्] आर्य ! गच्छामि^३ । स्वामिनी-नियोगम्^४ अनुचरितुम् । (अहो, साहसो बुद्धबम्भणस्स । ताए पुणगम्भदासीए सुणन्दणाए कधं एव दुक्करं आचक्खिअदि । देवीअ णिवेदिअ पसादं लभिस्सं । अज्ज ! गच्छामि सामिणीणिओअं अणुचिदिदम्)

विदूषकः—अहमपि इदानीं गच्छामि समीहितं सम्पादयितुम् । (अहं हि दाणि गच्छामि समीहितं सम्पादिदुम् ।)

जन्मतः दास्या, दुष्करं—कठिनकृत्यम्, आचक्ष्यते—कथ्यते । निवेद्य—विज्ञाप्य प्रसादम्—अनुग्रहं, लप्स्ये—प्राप्स्यामि । स्वामिनीनियोगम्—महाराज्ञ्याः आदेशम्, अनुचरितुम्—पालयितुम् । समीहितम्—अभिलषितं, सम्पादयितुं—सम्पन्नं कर्तुम् ।

विदूषक—अच्छा, अन्य कोई न जाने । [कान में कहता है—ऐसा, ऐसा]

माधविका—[अपने मन में] ओह ! इस वृद्ध ब्राह्मण का ऐसा साहस । और फिर जन्म की दासी उस सुनन्दना ने कैसे यह कठिन कार्य किया ? तो मैं यह सब महादेवी को बताकर उनकी कृपा प्राप्त करूँ [प्रकट रूप में] आर्य ! मैं जाती हूँ । महारानी द्वारा निर्दिष्ट कार्य को पूर्ण करूँ ।

विदूषक—मैं भी अब (अपने) अभीष्ट संपादन के लिए जा रहा हूँ ।

१ से मू० पा० । २ लभिष्यामि मू० पा० । ३ गच्छामि मू० पा० । ४

[इति निष्क्रान्तौ]

(प्रवेशकः)

[ततः प्रविशति मदनावस्थां नाटयन् राजा]

राजा—[सनिर्वेदं दीर्घं निःश्वस्य]

आयान्तीमधिगत्य मत्परिसरं देवीं परित्यज्य मां,
निर्गच्छन्त्यपि संभ्रमेण सुदती किञ्चित् परावृत्य सा ।
दृष्टिं यच्छति याप्युदश्रुकुलुषामुत्थाय तावन्मया,
तस्यान्तन्मुखमुन्नमय्य^१ सहसा किं नाम नो चुम्बितम् ॥१

मत्परिसरं—मत्समीपं, आयान्तीम्—आगच्छन्तीम्, देवीं—राज्ञीम्
अधिगत्य—प्राप्य, मां, परित्यज्य—त्यक्त्वा, निर्गच्छन्ती—अपि-निःसरन्ती
अपि, सुदती—शोभनदन्ता, सा—चन्द्रकला, संभ्रमेण—सत्वरं, किञ्चित्—
ईषत्, परावृत्य—मदभिमुखी भूत्वा, उदश्रुकुलुषां—नेत्रजलाविलां, दृष्टिम्—
ईक्षणं, यच्छति—ददाति, तावत्, मया, सहसा—झटिति, तस्याः—चन्द्र—
कलायाः, तन्मुखम् उन्नमय्य—उत्थाप्य, किं, नाम, नो— नहि, चुम्बितम्—
अचुम्बि ? अत्र शाङ्खलविक्रीडितं छन्दः ।१

[दोनों चले जाते हैं]

प्रवेशक समाप्त

[काम-पीडित अवस्था में राजा का प्रवेश]

राजा—[वेदनापूर्ण लंबी सांस लेकर]

जब वह (चन्द्रकला) यह जानकर कि महारानी मेरी ओर आ रही हैं
शीघ्रतापूर्वक जाने लगी और सुन्दर दन्तपंक्तियों वाले अपने मुख को घुमाकर
हड़बड़ी में उसने मुझपर दृष्टि-पात किया, उस समय उसका वह मुख अश्रुओं
से क्लुषित हो उठा था। उसी समय उसके मुख को उठाकर मैंने चुम्बन क्यों
नहीं कर लिया ? ।१

१ उनमध्य मू० पा० ।

[स्मरणमभिनीय]

श्रयति मयि समीपं स्मेरवक्त्रारविन्दं,
स्फुरदधरपुटान्तं दशितभ्रूविभेदम् ।
अलसवलिततारं किञ्चिदाकुञ्चिताक्षं,
कवलयति मनो मे पद्मलाक्ष्याः कटाक्षः ॥२

तत्पुनरवलोकयामि समदनवेदनान्धकारशमनीं^१ प्रियतमामिमां
चन्द्रकलाम् । [विचिन्त्य]

मयि, समीपं—निकटं, श्रयति—सेवमाने (सति) स्मेरवक्त्रार-
विन्दं—मन्दहास्ययुक्तं मुखकमलं यस्मिन् तत् (यथा स्यात् तथा)
स्फुरदधरपुटान्तं—स्फुरन् कम्पमानः अधरपुटान्तः ओष्ठप्रान्तो यस्मिन्
तत् दशितभ्रूविभेदम्—दशितः प्रकटितः भ्रूविभेदः भ्रूमङ्गो यस्मिन्
तत् अलसवलिततारम् अलसः आलस्ययुक्तः वलितः वलियुक्तश्च तारः
अक्षः कनीनिका यस्मिन् तत्, किञ्चिदाकुञ्चिताक्षं—किञ्चित् ईषत्
आकुञ्चितं कुटिलम् अक्षि नेत्रं यस्मिन् तत्, पद्मलाक्ष्याः—पद्मलं
सुन्दरपद्मयुक्तम् अक्षि यस्याः तथाभूतायाः सुनयनाया इत्यर्थः, कटाक्षः—
अपाङ्गदर्शनं, मे मनः—चित्तं, कवलयति—प्रासीकरोति । अत्र मालिनी-
च्छन्दः ॥२

समदनवेदनान्धकारशमनीम्—मदनेन कन्दर्पेण सहिता या वेदना पीडा संव
अन्धकारः तमः तस्य शमनीं शमयिष्यमीम् ।

[स्मरण-सा करता हुआ]

बड़ी-बड़ी भौंहों वाली आँखों के कटाक्ष से वह मेरे हृदय को हर लेती है;
मन्दहास से पूर्ण अपने कमलानन को मेरी ओर किये हुए है, उसके ओष्ठ हिल
रहे हैं, भौहें सिकुड़ी हुईं और आँखें कुछ मन्द मुंदी-सी तथा चमकीली हैं ॥२

तो मैं पुनः मदन-जनित वेदना रूपी अन्धकार को दूर करने वाली अपनी
प्रियतमा चन्द्रकला को देख रहा हूँ । [सोचकर]

१ शमनं म० पा० ।

तदिहैव तावत्—विकसितकुसुमभरशीतलामोदमेदस्विनि निरन्तरनवपल्लवप्रताननिवारिततरणिकिरणप्रवेशे रसालतरुतले नीलमणिशिलामध्यासीनो निर्वापयामि प्रेयसीविरहसन्तप्तमात्मानम् । [इति परिक्रम्योपविश्य] अये ! कथमसौ सहकारः समन्ततः संपुल्लकुसुमपरागैः^१ प्रेयसीविरहविधुरं मामत्यन्तमुद्वेजयति [विचिन्त्य] एष खलु मयैव चिरपालितो न लङ्घयिष्यति मे वचनम् । तदेनमेव सदैव्यं निवेदयामि ।

विकसितकुसुमभरशीतलामोदमेदस्विनि—मञ्जरीसमूहानां शीतलसौरभेण स्थूले, निरन्तरनवपल्लवप्रताननिवारिततरणिकिरणप्रवेशे—निरन्तरं सततं नवपल्लवानां नवकिसलयानां प्रतानेन विस्तारेण निवारितः अवरुद्धः तरणिकिरणप्रवेशः सूर्यकिरणप्रवेशः यत्र तादृशे, रसालतरुदले—आम्रवृक्षस्य अधः, नीलमणिशिलामध्यासीनः—नीलमणेः शिलाखण्डोपरि उपविशन्, प्रेयसीविरहसन्तप्तम्—प्रियतमावियोगेन दग्धम्, आत्मानं, निर्वापयामि—शमयामि । सहकारः—आम्रः, समन्ततः—सर्वतः, संपुल्लकुसुमपरागैः—विकसितपुष्परजोभिः, प्रेयसीविरहविधुरं—प्रेयस्याः प्रियतमायाः विरहेण वियोगेन विधुरं व्याकुलं, माम्, अत्यन्तम्—अत्यधिकम्, उद्वेजयति—व्याकुलीकरोति । एषः—आम्रः, चिरपालितः—बहोः कालात् संरक्षितः, मे वचनं, न लङ्घयिष्यति—मम आज्ञाभङ्गं न करिष्यति । सदैव्यं—दीनतासहितं यथा, स्यात् तथा, निवेदयामि—प्राथये

तो मैं अब इसी आम्रवृक्ष के तले जहाँ निरन्तर नये-नये पल्लवों के विस्तार के कारण सूर्य की किरणें नहीं पहुँचती और जो खिले हुए पुष्पों की शीतल सुगन्ध से परिपुष्ट है, नीलम की शिला पर बैठकर प्रियतमा के वियोग से सन्तप्त अपने को शान्ति प्रदान करूँ । [ऐसा कहता हुआ बैठकर] आह ! यह रसाल क्यों मुझ प्रिया-विरह से पीड़ित को, चारों ओर फूले हुए पुष्पों के पराग से अत्यन्त व्याकुल कर रहा है ? [सोचकर] यह तो मेरा ही चिरकाल से पाला-पोसा हुआ वृक्ष है । इस कारण निश्चित ही मेरे वचनों को नहीं टालेगा । अतएव इसी से विनम्र निवेदन करता हूँ ।

[साञ्जलिबद्धम्]

हं हो चूतमहीरुह ! त्वमिह नः स्नेहेन वृद्धिं गत-
स्तत्किं मामभिवर्षसि प्रति मुहुर्ध्रुं लिच्छान्मुमुर्ः^१ ।

[विभाव्य]

कथमित्थं प्रार्थ्यमानोऽपि आचरसि मयि तथैव परिपन्थित्वम् ?

[स्मरणमभिनीय]

आ ज्ञातं कुसुमान्यमूनि विशिखान्निर्माय पञ्चायुधः,
पञ्चत्वं जगतीं नयत्यविरतं तेनावलेपस्तव ॥३

हं हो चूतमहीरुह—हे आम्रवृक्ष ! त्वम् इह—अत्र, नः—अस्माकं
स्नेहेन—प्रेम्णा, वृद्धिं गतं—वधितः, तत्—तस्मात्, किं—कथम्, माम्
प्रति, मुहुः—बारं-बारं, धूलिच्छलात्—परागभ्याजात्, मुमुर्ः—तुषाग्निभिः
अभिवर्षसि—दृष्टिं करोषि ? विभाव्य—विचार्यं, प्रार्थ्यमानोऽपि—निवेद्य-
मनोऽपि, परिपन्थित्वं—शत्रुतां आ ज्ञातम्—अहह अवगतम् पञ्चायुधः—
कामः, अमूनि, कुसुमानि—पुष्पाणि, विशिखान्—बाणान् निर्माय—
रचयित्वा, अविरतं—नित्यं, जगतीं—संसारं पञ्चत्वं नयति—विनाशयति,
तेन, तव अवलेपः—गर्वः (जातः) । अत्र शार्दूलविश्रीडितं छन्द ॥३

[हाथ जोड़कर]

हे आम्रवृक्ष ! तुम तो हमारे ही स्नेह से पले-मोसे और बढ़े हुए हो, तो फिर
क्यों यह बार-बार मेरे ही ऊपर पुष्प-धूलि के बहाने तुषाग्नि बरसा रहे हो ?

[सोचकर]

क्यों निवेदन करने पर भी तुम वैसा ही शत्रुतापूर्ण व्यवहार करते आ रहे हो ?

[स्मरण सा करता हुआ]

अच्छा, समझ गया । तुम्हारे इन फूलों को कामदेव अपना (पञ्च) बाण
बनाकर संसार का नित्य विनाश करता है, इसी से तुम्हें गर्व हो गया है ॥३

तदलमिदानीमचेतने भवत्यत्यन्तं कृपणताप्रकाशनेन । पञ्चायुधमेव तावत्प्रार्थये^१ यत्प्रसादात्तवायमीदृशो गर्वः । [आकाशलक्ष्यमञ्जलि बद्ध्वा^२]

किं कन्दर्प ! मुखं विधाय मधुपैः पक्षं नवैः पल्लवै-
रेभिश्चूतशरैः करोषि जगती^३ जेतुं प्रयासं मुधा ।
निद्रातुं शयितुं प्रयातुमथवा स्थातुं क्षमः को भवे-
देकोऽसौ कलकण्ठकण्ठकुहरे जागर्ति^४ चेत्पञ्चमः ॥४

अचेतने-जड़े, भवति—त्वयि, कृपणताप्रकाशनेन-कापण्यप्रकटनेन,
अलं—व्यर्थम् । पञ्चायुधं—कामम् प्रार्थये—विनिवेदयामि, यत्प्रसादात्—यस्य
कृपातः, गर्वः—अभिमानः । आकाशलक्ष्यम्—आकाशं प्रति दृष्टिं कृत्वेत्यर्थः ।

कन्दर्प—हे कामदेव ! मधुपैः—ध्रुवरैः, मुखम्—आननं, नवैः—नूतनैः
पल्लवैः—किसलयैः, पक्षं—गरुतं, विधाय—कृत्वा, एभिः, चूतशरैः—
आम्रबाणैः, जगतीं—जगत्, जेतुं—वशीकृतुं, प्रयासं—प्रयत्नं मुधा—व्यर्थं
करोषि—विदधासि, (यतो हि) चेत्—यदि, कलकण्ठकण्ठकुहरे—कोकिल-
कण्ठविवरे, एकः—एकाकी, असौ—अयं, पञ्चमः—पञ्चमस्वरः, जागर्ति—
गुञ्जितो भवति, (तर्हि) कः निद्रातुं—निद्रावस्थायां स्थातुं, शयितुं—स्वपितुं
शयनोपक्रमं कर्तुमिति यावत्, प्रयातुं—प्रस्थातुम्, अथवा—आहोस्वित्, स्थातुं
क्षमः—समर्थः, भवेत् ? अत्र शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥४

इसलिए तुम जड़ के सामने अपनी पीड़ा का निवेदन करना व्यर्थ है । सच
में तो मुझे उसी पञ्चायुध से प्रार्थना करनी चाहिए, जिसकी कृपा से तुमको ऐसा
गर्व हुआ है । [आकाश को लक्ष्य करके हाथ जोड़कर]

हे कामदेव ! तुम भौरों का मुँह और नव पल्लवों का पंख बनाकर आम्र
मंजरी रूपी बाणों द्वारा संसार को जीतने का व्यर्थ प्रयास कर रहे हो ? सोचो
तो यदि इस कोयल के कण्ठ में पंचम स्वर गूँजा तो इस संसार में भला कौन
ऊँघने, सोने, चलने अथवा रुकने में समर्थ हो सकेगा ? ॥४

१ अत्र '१' मू० पा० अयुक्तः । २ बद्ध्वा मू० पा० । ३ जगति मू० पा०
४ जागर्ति मू० पा०

[विचिन्त्य] अये ! कथं त्वमपि नामैवं प्रार्थ्यमानोऽपि निशितशर-
निपातेन कृन्तसि मे हृदयम् ? शृणु तावत्—

शरस्ते दुर्वारः स्मर ! पुरहरस्यान्तभिदुरः,
फलं किं नामासावधिकमधिगन्तुं तुदति माम् ।

(विचिन्त्य)

अलं वा दैन्येन त्वयि यदखिलस्यापि जगतो,
मनो मथ्नासीति प्रथितिरिह ते मन्मथ इति ॥५

[विचिन्त्य] कथं मयापि दुरवसनार्थप्रार्थनेनात्मा सन्ताप-

निशितशरनिपातेन—तीक्ष्णबाणप्रहारेण, कृन्तसि—छिनत्सि ?

स्मर—हे कन्दर्प !, पुरहरस्य—त्रिपुरारेः शिवस्य, अन्तभिदुरः—हृदये
वज्र इव ते—तव, शरः—बाणः, दुर्वारः—दुःखेन वारयितुं लोग्यः—(तर्हि)
असौ—शरः, किं नाम, अधिकं, फलम्, अधिगन्तुं—प्राप्तुम्, माम्, तुदति—
व्यथयति ? वा—अथवा, त्वयि, दैन्येन—कातर्येण, अलं—व्यर्थम्, यत्—
यस्मात्, अखिलस्यापि—सम्पूर्णस्यापि, जगतः—संसारस्य, मनः—चित्तं, मथ्ना-
सि—विलोडयसि, इति (हेतोः), इह—लोके, ते मन्मथः, इति प्रथितिः—
प्रसिद्धिः (वर्तते) । अत्र शिखरिणीच्छन्दः । ५

दुरवसनार्थप्रार्थनेन—दुर्लभवस्तुयाचनेन, सन्तापनीयः—खेदनीयः । सन्तः—

[सोचकर] ओह ! क्यों कामदेव ! तुम भी मेरी प्रार्थना सुनकर भी अपने
तेज बाणों से मेरे हृदय को वेध रहे हो ? अच्छा तो सुनो—

हे कामदेव ! शंकर के भी हृदय को वज्र के समान लगने वाले तुम्हारे
ये बाण दुर्निवार हैं; फिर मेरे हृदय को इस प्रकार वेधकर कौन-सा बड़ा लाभ
उठाना चाहते हो ?

अथवा तुमसे दीनता का निवेदन करना व्यर्थ है, क्योंकि संसार के मन को
मथने के कारण तुम मन्मथ नाम से प्रसिद्ध हो चुके हो । ५

(सोचकर) मैं क्यों व्यर्थ, दुर्लभ वस्तु के लिए प्रार्थना करके आत्मा को
कष्ट पहुँचाऊँ ?

नीयः । तथाहि । सन्तोऽस्यन्तु^१ पराङ्मुखाः । [सोत्कण्ठम्]
सुमुखि ! मां किं नाम नो भाषसे ? [पुनर्विचिन्त्य] आः, कथं
नाम लोकेषु विवेकितया^२ प्रथितिमासादयताऽपि मया निष्फलप्रयासोऽ
यमनुभूयते । [विचिन्त्य] तथाहि । मूढानां वितथप्रयासपरता
[सदन्यम्] मा मुञ्च वामाक्षि ! माम् । [पुनर्विचिन्त्य] अलम-
कारणमनारतं देवीप्रकोपभीतिकातरस्य ममैवमारम्भः । तथाह्येवं
सति देवी कुप्यति । [सोद्वेगम्] किं प्रपृच्छसि^३ परीरम्भं न
रम्भोरु ! मे । [पुनर्विचिन्त्य । सधैर्यावष्टम्भम्] चेतः ! प्रार्थयसे

सन्तः सज्जनाः, पराङ्मुखाः—विमुखाः, अस्यन्तु—क्षिपन्तु । सोत्कण्ठम्—उत्कण्ठया
ओत्सुक्येन सहितम् । सुमुखि—सुन्दरि !, भाषसे—वदसि । लोकेषु—जनेषु
विवेकितया—विवेकशीलतया, प्रथितं—प्रसिद्धिम्, आसादयता—प्राप्नुवता ।
मूढानां—मूर्खानाम्, वितथप्रयासपरता—व्यर्थप्रयासपरायणत्वम् । वामाक्षि—
सुनयने !, मा मुञ्च—न त्यज । अनारतं—सततं, देवीप्रकोपभीतिकातरस्य—
देव्याः प्रकोपात् क्रोधात् भीतिः भयं तेन कातरः भीरुः तस्य । परीरम्भम्—
आलिङ्गनम्, रम्भोरु—रम्भा कदलीस्तम्भः इव ऊरु यस्याः तादृशि ! ।
सधैर्यावष्टम्भम्—धैर्यधारणपूर्वकम् ।

क्योंकि सज्जन लोग विमुख होते जा रहे हैं । [उत्सुकता के साथ]
सुन्दर मुख वाली तुम मुझसे भाषण क्यों नहीं करती हो ?
[पुनः सोचकर] ओह ! तीनों लोकों में विवेकी रूप से प्रसिद्ध मुझे
भी अपने प्रयास में निष्फलता का क्यों अनुभव हो रहा है ? [सोचकर]
क्योंकि व्यर्थ प्रयास करना तो मूर्खों का धर्म है । [दीनता के साथ] हे
सुनयने ! मुझे त्यागो मत । [फिर सोचकर] निष्कारण सतत देवी के
प्रकोप के डर से भीरु बने हुए मेरा इस प्रकार का प्रयत्न करना व्यर्थ है ।
क्योंकि ऐसा होने से देवी क्रुद्ध होंगी । [आकुलतापूर्वक] हे कदली के
स्तम्भ के समान जङ्घों वाली ! क्या तुम मेरा आलिङ्गन नहीं चाहती हो ?
[फिर सोचकर, धैर्य के साथ] हृदय ! क्या किसी अन्य सुलभ वस्तु के लिए

किमन्यसुलभम् । [सौत्सुक्योद्वेगम् । सवाष्पगदगदम्] हा क्वासि मे प्रेयसि^१ !

किं वामाक्षि ! कटाक्षमाचरयसि प्रेम्णा मयि प्रेयसि,
[विभाव्य सविषादम्]

स्मेरेन्दीवरगर्भतः कुत इयं निर्याति भृङ्गावलिः ।

[कोकिलध्वनिमनुभूय सवितर्कम्]

सौत्सुक्योद्वेगम् — उत्कण्ठाव्याकुलतासहितम् सवाष्पगदगदम् -- अश्रुणा
अवरुद्धकण्ठेन । प्रेयसि — प्रियतमे !, क्वासि - कुत्वासि ?

वामाक्षि—सुनयने ! प्रेयसि—प्रियतमे ! किं, मयि, प्रेम्णा, कटाक्षम्
आचरयसि - करोषि ?, विभाव्य - विचार्यं, सविषादं - सखेदं, स्मेरेन्दी-
वरगर्भतः—विकसितनीलकमलान्तर्भागात्, इयं भृङ्गावलिः—भ्रमरपङ्क्तिः
कुतः—कस्मात्, निर्यातिः—निर्गच्छति ?, कोकिलध्वनि—कोकिलालापम्
अनुभूय, सवितर्कं—वितर्केण ऊहापोहेन सहितम्,

प्रार्थना कर रहे हो ? [उत्सुकता एवं उद्वेग के साथ आँसू से अवरुद्ध कण्ठ से] हा प्रियतमे ! तुम कहाँ हो ?

हे सुन्दर नयनों वाली ! क्या तुम प्रेम पूर्वक नेत्रों से मेरी ओर कटाक्ष करती हो ? [सोचकर, दुःख से] नीलकमल के कोष से यह भीरों का समूह किधर से आ रहा है ? [कोकिल-ध्वनि का अनुभव करके संदेह के साथ]

^१ ऊपर के गद्यों से कुछ पंक्तियों को छाँट लेने पर यहाँ एक श्लोक बन जाता है:—

[सन्तोऽस्यन्तु पराङ्मुखाः सुमुखि ! मां कि नाम नो भापसे,
मूढानां वितथप्रयासपरता मा मुञ्च वामाक्षि ! माम् ।
देवी कुप्यति किं प्रपृच्छसि परीरम्भं न रम्भोर ! मे,
चेतः ! प्रार्थयसे किमन्यसुलभं हा क्वासि मे प्रेयसि ।]

किं नाम्ना १ विदधासि सुन्दरि !

[निरूप्य] कथं क्रीडापिकीनिःस्वनः ?

जितं मया । किं प्राप्तासि कृशोदरि !

[सनैराश्यम्^२ । दीर्घं निःश्वस्य]

आः, कथं मम भाग्यविपर्ययेण । स्तवकिनीवल्लीयमुत्पल्लवा^३ ॥७

[इति मूर्च्छितः^४ पतति]

[समाश्वस्योत्थाय दिशोऽवलोक्य उच्चैःकारम्] ननु भोः
क्रीडावनविहारिणः ! तरुमृगविहङ्गमाः ! जानन्ति भवन्तः कुतो मे

विदधासि—नामोच्चारणं करोषि ? निरूप्य—वीक्ष्य, कथं, क्रीडापिकीनिः-
स्वनः—क्रीडाकोकिलशब्दः ?' कृशोदरि—क्षीणमध्यमे !, किं, प्राप्तासि—
लब्धासि ?, भाग्यविपर्ययेण—भाग्यदोषेण, इयं, स्तवकिनी—गुच्छ्रावती,
वल्ली—लता, उत्पल्लवा—नवकिशलया (जाता) ? अत्र शार्दूलविक्री-
डितं छन्दः ॥७

समाश्वस्य—सान्त्वनां प्राप्य, उच्चैःकारम्—उच्चैः कृत्वा, क्रीडावन-
विहारिणः—क्रीडोद्यानविहरणशीलाः !, तरुमृगविहङ्गमाः—वृक्षपशुपक्षिणः !,

सुन्दरी ! क्या नाम ले (कर पुकार) रही हो ? [देखकर] क्या
यह पालतू कोयल का शब्द है ? [पुनः दूसरी ओर देखकर हर्ष के साथ]
मैंने जीत लिया । हे पतली कमर वाली ! क्या तुम मिल गई हो ? [निराश
होकर लम्बी साँस खींचता हुआ] आह ! मेरे दुर्भाग्य से, यह क्या पल्लवों वाली
पुष्पलता सामने फूली हुई है ? ॥७

[मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है]

[आश्वस्त होकर उठकर दिशा की ओर देखता हुआ जोर से] हे
क्रीडोद्यान में विहार करने वाले ! वृक्ष, पशु तथा पक्षियों ! आप लोग जानते

१ नामा मू० पा० । २ सनैराश्यं मू० पा० । ३ ऊपर के श्लोक का चौथा
चरण यह है :—'किं प्राप्तासि कृशोदरि स्तवकिनी वल्लीयमुत्पल्लवा' ।

प्रियतमेति ! (विभाव्य) अये ! कथमयमशोकश्चलता किशलयकरेण मामाकारयति । एष खलु मे कथयिष्यति प्रियतमावृत्तान्तम् तदुपसृत्य पृच्छामि । (इत्युपसृत्य)

त्वमशोक ! शोकमपहृत्य मामकं, कुरु तावदाशु निजनाम सार्थकम् । अवलोकितान्न भवता यदि सा क्व नु, विद्यते, ननु निगद्यतां तदा ॥८

[विभाव्य] अये ! कथमिदानीमिहाहूय मामकथयित्वा प्रियावृत्तान्तं मौनमवलम्बसे ? [सरोषम्] अये मृषावञ्चक ! तदिह नचिरादेव दावानलस्य विषयीभविष्यति भवानेकः । [पुनरन्यतो गत्वा सवितर्कम्] नूनमनेन सर्वतश्चरता चञ्चरीकेण विदिता भविष्यति सा । तदेतमेवोपसृत्य गच्छामि । [इत्युपसृत्य सविनयम्]

भ्रातृद्विरेफ! भवता भ्रमता समन्तात्, प्राणाधिका प्रियतमा मम वीक्षिता किम् ।

इह — अत्र, आहूय—आकारयित्वा, प्रियावृत्तान्तं—प्रियासमाचारम् । मौन—तूष्णीम्भावम्, अवलम्बसे गृह्णासि ? मृषावञ्चक—मिथ्याप्रतारक ।, नचिरा—देव—शीघ्रमेव, दावानलस्य—दावाग्नेः विषयीभविष्यति—लक्ष्यीभविष्यति । सर्वतः—चतुर्दिक्षु, चरता—भ्रमता, चञ्चरीकेण—भ्रमेरेण, विदिता—ज्ञाता । उपसृत्य—समीपं गत्वा । भ्रातः, द्विरेफ—भ्रमर ! समन्तात्—सर्वतः भ्रमता—चरता, भवता, मम प्राणाधिकां—प्राणतोऽपि गरीयसी, प्रियतमा—प्रेयसी, किं वीक्षिता—क्वापि दृष्टा ? झङ्कारमनुभूय सानन्दमिति कविवाक्यम् । तथा च भ्रमरस्य झङ्कारमेव ओम् शब्दं मत्वा नायकः पुनराहेत्यर्थः । किम् ओमिति,

मेरी प्रियतमा कहाँ है ? (सोचकर) अरे, यह अशोक अपने चंचल किशलय-करोँ से मुझे बुला रहा है । अवश्य यह मेरी प्रियतमा का वृत्तान्त बतायेगा । इसलिए चलकर पूछता हूँ (पहुँचकर) —अशोक ! मेरा शोक दूर करके तुरन्त अपना नाम सार्थक कर लो । यदि तुमने उसे (मेरी प्रियतमा को) देखा है, तो वह कहाँ है बताओ ॥८

[सोचकर] अरे ! मुझे बुलाकर भी प्रियतमा का वृत्तान्त बिना बताये ही मौन धारण कर रहे हो ? [क्रोध के साथ] हे मिथ्या वंचक ! अब से अधिक देर वाद नहीं (शीघ्र ही) तुम दावानल से भस्म हो जाओगे । [पुनः दूसरी ओर जाकर तर्कपूर्वक] सर्वत्र विचरण करनेवाले ये भीरे निश्चित ही उसके विषय में जानते होंगे । तो उनके पास पहुँचकर पूछो । [यह कह कर उनके पास जाकर विनय के साथ]

बन्धु भ्रमर ! तुम चारों ओर विचरते हो । प्राण से भी बढ़कर मेरी प्रियतमा को देखा है क्या ? ! [झंकार सुनकर आनन्द से] क्या 'हाँ' कह रहे

[भङ्गारमनुभूय सानन्दम्]

ब्रूषे किमोमिति सखे ! कथयाशु तन्मे,
किं किं व्यस्यति कुतोऽस्ति^१ च कीदृशी सा^२ ॥ ६

[निःश्वस्य] हा निर्दय ! जानामीत्युक्तवानपि अकथितप्रिया-
वृत्तान्तः कथं ब्रजसि परिहाय मामशरणम् । [सरोषम्] अये ! कथं
नाम केतककण्टकावलिग्रथितविग्रहो न मरणमधिगच्छत्ययं पापः !
[कोकिलध्वनिमनुभूय निपुणं विभाव्य] अये ! सत्यमिदानीम् ।

कुहूमाकारयत्येष कुहूकण्ठो मुहुर्मुहुः ।
तत्कथं परिदृश्येत प्रिया चन्द्रकला मम ॥ १०

ब्रूषे—कथयसि ?, ओमिति स्वीकारार्थकमव्ययम् । तथा च मया वीक्षित
इति किं स्वीकरोषीत्यर्थः । तत्—तदा, सखे—मित्र ! आशु—शीघ्रं,
मे—मह्यं कथय-ब्रूहि (मम प्रियतमा) किं किं व्यवस्यति—चेष्टते करोतीत्यर्थः
कुतः—कुत्र, च, अस्ति, कीदृशी च सा (इति) । अत्र वसन्ततिलकाच्छन्दः । ६
निर्दय—निष्कुर, अकथितप्रियावृत्तान्तः—न कथितः नोक्तः प्रियाया चन्द्र
कलायाः वृत्तान्तः उदन्तः येन तादृशः, परिहाय—त्यक्त्वा, अशरणम्—निः-
सहायम् केतककण्टकावलिग्रथितविग्रहः केतककण्टकावलिभिः केतकीकण्टकसमूहैः
ग्रथितः विग्रहः शरीरं यस्य तादृशः, अधिगच्छति—प्राप्नोति ।

एषः कुहूकण्ठः—कोकिलः, मुहुर्मुहुः—वारंवारं, कुहूम्—कुहू इति
मधुरास्फुटशब्दम् आकारयति—उच्चारयति, तत्—तस्मात्, मम, प्रिया,
चन्द्रकला, कथं—केन प्रकारेण, परिदृश्येत—अवलोक्येत १०

हो ? तो शीघ्र बताओ कि वह क्या करना चाहती है, और कौसी दशा में है ? १६

[आह भरकर] हा निर्दय ! 'मैं जानता हूँ' ऐसा कहकर भी बिना प्रिया का
वृत्तान्त बताये ही मुझ असहाय को छोड़कर कैसे जा रहे हो ? [क्रोध के साथ]
अरे ! केतकी के काँटों से विद्धशरीर होकर यह पापी मर क्यों नहीं जाता ! [कोयल
की ध्वनि का अनुभव करके भली-भाँति सोचकर] अरे ! सचमुच इस समय

यह कोकिल वार-वार 'कुहू-कुहू' कर रहा है । इसलिए मेरी प्रिय चन्द्रकला
कैसे दिखाई देगी ? १०

तदेनमेवानुनीय निवारयामि ।

[इति कोकिलमुपसृत्य सविस्मयम्]

विश्राम्यतु कुहूकण्ठ ! कुहूरिति तव ध्वनिः ।

यत्तया नैति साम्मुख्यं प्रिया चन्द्रकला मम ॥११

[सरोषम्] आः, कथं प्रार्थ्यमानोऽपि तथैव व्याहरसि ? [विचिन्त्य] भवतु । परव्यसनसन्तुप्तं न पुनरेनं मलिनात्मानं प्रार्थयिष्ये । तदितोऽन्यतो गत्वापि प्रियतमामन्वेषयामि । [कतिचित्पदानि गत्वा मलयानिलस्पर्शमनुभूय सोद्वेगम्] अहो, किमिदानीं दरदलितकेतकपरिमलमिलदविरलभ्रमरझङ्कारमुखरिताशामुखश्चन्दनानिलोऽपि मामुत्तापयति । भवतु, तदेनमेवमनुनयामि ।

कुहूकण्ठ - हे कोकिल ! तव—ते कुहूः, इति ध्वनि—शब्दः, विश्राम्यतु—विरमतु, यत्—यस्मात् तथा—कुहू, प्रिया, चन्द्रकला, मम—मे साम्मुख्यं—समक्षं, नैति—नागच्छति ॥११

प्रार्थ्यमानोऽपि—अभ्यर्थ्यमानोऽपि, व्याहरसि—निगदसि । परव्यसनसन्तुप्तम्—अन्यस्य विपदा सन्तुष्टम्, मलिनात्मानं—दूषितान्तःकरणम्, दरदलितकेतकपरिमलमिलदविरलभ्रमरझङ्कारमुखरिताशामुखः—दरदलितस्य किञ्चिन्मदितस्य केतकस्य परिमलेन सुवासेन मिलन्तः संगच्छन्तः अविरलाः सघनाः भ्रमराः तेषां झङ्कारेण मुखरितं नादितम् आशामुखं दिङ्मुखं येन तादृशः, चन्दनानिलः—मलयमारुतः ।

इसलिए इसी को मनाकर रोक देता हूँ ।

(यह देखकर कोकिल के पास जाकर आश्चर्य के साथ)

हे कोकिल ! तुम कूकना बन्द करो; क्योंकि इस कारण मेरी प्रिया चन्द्रकला (मेरे) सामने नहीं आ रही है ॥११

(क्रोध के साथ) आह ! प्रार्थना करने पर भी क्यों ऐसा बोल रहे हो ? (सोचकर) अच्छा, पर-सन्ताप से सन्तुष्ट होने वाले इस मलिनात्मा से अब फिर प्रार्थना नहीं करूँगा । यहाँ से चलकर प्रियतमा को अन्यत्र ढूँढ़ूँ । (कुछ कदम चलकर मलयानिल के स्पर्श का अनुभव करके उद्वेगपूर्वक) क्या, पुष्पित केतकी के पराग से मोहित धौरों के गुञ्जन स्वर से दिशाओं को मुखरित

[इति सविनयम्]

धीरसमीरण ! दक्षिणसरसिजशीतल ! किं दहस्येवम्

[सविमर्शम्]

जाने चन्दनशैलद्विजिह्वसंसर्गदूषितस्त्वमपि ॥१२

[नेपथ्ये] अहो, पश्यत, पश्यत—

आस्तीर्णा इव नीलचेलनिचयैः पूर्णा इवेन्दीवरै—

राकीर्णा इव चूर्णितैर्मृगमदैः पूर्णा इवाभ्रैर्नवैः ।

रुद्धवानेन विगृह्य लोचनपथं भेद्येन सूचीमुखै—

धीरसमीरण—हे मन्दपवन ! दक्षिणसरसिजशीतल—दक्षिणवनस्थैः सरसिजैः कमलैः शीतलं शीतलस्पर्शं ! किम्, एवम् दहसि—भस्मीकरोषि जाने, त्वमपि, चन्दनशैलद्विजिह्वसंसर्गदूषितः—मलयगिरिर्वतिसपंसम्पर्केण दूषितो जात इति शेषः । १२

नीलचेलनिचयैः—नीलाम्बरसमूहैः, आस्तीर्णा इव—आच्छादिता इव इन्दीवरैः—नीलकमलैः, पूर्णा इव—संभृता इव, चूर्णितैः—पिष्टैः, मृगमदैः—कस्तूरीभिः, आकीर्णा इव—व्याप्ता इव, नवैः—नूतनैः अभ्रैः—मेघैः, पूर्णा इव, अनेन, तमालमलिनच्छायेन—तमालवृक्षवदं मलिना कृष्णवर्णा छाया कान्तिः यस्य तादृशेन, सूचीमुखैः भेद्येन—निविडेन तमसा-

करने वाला यह मलयानिल भी मुझे सन्तप्त कर रहा है ? अस्तु, इससे भी निवेदन करता हूँ । [ऐसा कहकर विनय के साथ]

हे दक्षिण वन के कमलों से शीतल मन्द वायु ! मुझे इस प्रकार क्यों सन्तप्त करते हो ? [विचार करके] मालूम होता है कि मलयगिरि के साँपों के संसर्ग से तुम भी दूषित हो गये हो । १२

[नेपथ्य में] अहा, देखो, देखो—

तमालवृक्ष की मलिन छाया की भाँति सूचीभेद्य अन्धकार ने समस्त दिशाओं को व्याप्त कर लिया, नयन-मथ पर कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता ।

मालूम पड़ता है कि सम्पूर्ण दिशाये नील वस्त्रों से आच्छादित हो गयीं अथवा

राच्छन्नास्तमसा तमालमलिनच्छायेन^१ सर्वा दिशाः ॥१३
 राजा—(निशम्य, समन्तादवलोक्य) अये ! कथमिदानीम्—
 आलोकाय भवन्ति न व्रततयो नैणा न भूमीरुहो,
 नाकाशं न वसुन्धरा न हरितो नाक्षाणि नाङ्गानि वा ।
 रुद्ध्वानेन कुतश्चिदेत्य जगतीं कस्मादकस्मादहो,
 सर्वं क्वापि निरन्तरेण तमसा संहृत्य नीतं बलात् ॥१४

अन्धकारेण, विगृह्य—विरोधं कृत्वा, लोचनपथं—दृष्टिमार्गं, रुद्ध्वा
 सर्वाः—समस्ताः, दिशाः, आच्छन्नाः—आवृताः । अत्र शादूँलविक्रीडितं
 छन्दः ॥१३

न व्रततयः—न लताः, न एणाः—न मृगाः, न भूमीरुहः—न वृक्षाः
 न आकाशं, न वसुन्धरा—न पृथ्वी, न हरितः—न सिंहाः, न अक्षाणि—
 न सर्पाः, वा—अथवा, न अङ्गानि—न अवयवाः, न आलोकाय—दर्शनाय
 भवन्ति—जायन्ते । अहो—आश्चर्यम्, कस्मात्—कथम्, अकस्मात्—
 असंभावितरूपेण, कुतश्चित्—कस्मादपि स्थानात्, एत्य—आगत्य
 जगतीं—संसार, रुद्ध्वा—अवरुध्य, अनेन, निरन्तरेण—स्थायिना,
 तमसा—अन्धकारेण, सर्वं—निखिलं वस्तुजात, संहृत्य—एकत्रीकृत्य
 क्वापि—कुत्रापि, बलात्—बलपूर्वकं, नीतं—प्रापितम् । अत्रापि शादूँलवि-
 क्रीडितं छन्दः ॥१४

सर्वत्र नीलकमल खिल गये हैं अथवा कस्तूरी का चूर्ण सर्वत्र बिखेर दिया गया है
 या नवीन मेघ छा गये हैं ॥१३

राजा—[सुनकर, चारों ओर देखकर] ओह, यह क्या ?

लताएँ, हरिण, वृक्ष, आकाश पृथ्वी, सिंह, साँप और यहाँ तक कि शरीर
 के अङ्ग भी आँखों से दिखाई नहीं पड़ रहे हैं । अरे, यह तो कहीं से आकर
 स्थायी अंधकार ने अचानक जगतीतल को ढक लिया और सभी वस्तुओं को
 एकत्रित करके बलपूर्वक कहीं अन्यत्र उठा ले गया ॥१४

(विचिन्त्य)

दुर्लक्ष्योऽपि भवति नितरां बाणघातः परेषा—

मस्यत्येवं कथमितरथा जायते पुष्पकेतोः ।

ध्वान्तच्छन्ने जगति परितश्चापमाकृष्य रोषा—

दित्थं यस्मादधिकमधुना मामयं निर्भिनत्ति ॥१५

(विचिन्त्य) कथमिदानीमपि चीयते प्रियवयस्यो मे रसालकः

सुहृत्प्रकाशितः खलु शिथिलीभवति सकलोऽप्यान्तरः क्लेशः ।

(ततः प्रविशति विदूषकः)

परेषाम्—अन्येषां; बाणघातः—बाणप्रहारः नितराम्—अत्यन्तं,
दुर्लक्ष्यः—अदृश्यः, भवति, एवम्—इत्थम्, अस्यति—प्रक्षिपति, (चेत्)
पुष्पकेतोः—कामस्य, (बाणघातः) कथम्, इतरथा—अन्यथा, जायते ?
परितः—चतुर्दिक्षु, ध्वान्तच्छन्ने—तमसावृते, जगति—संसारे, यस्मात्—
यतः, अयं—कामः, रोषात्—क्रोधवत्, इत्थम्—अमुना प्रकारेण, चापं—
धनुः आकृष्य, अधुना—इदानीम्, माम्, अधिकं, निर्भिनत्ति—छिनत्ति ।
अत्र मन्दाक्रान्ताच्छन्दः ॥१५

चीयते—दृश्यतेः, रसालकः—एतन्नामको विदूषकः । सुहृत्प्रकाशितः—
मित्राय निवेदितः, आन्तरः—अन्तःकरणस्थः, क्लेशः—कष्टं, शिथिलीभवति—

[सोचकर] दूसरों के द्वारा छोड़ा गया बाण कठिनाता से ही दृष्टिगत होता है । परन्तु आघात करता ही है, फिर कामदेव के छोड़े गये बाण कैसे अन्यथा हो सकते हैं ? यही कारण है कि घोर अन्धकार के द्वारा चारों ओर से जगतीतल के ढक लिये जाने पर यह कामदेव क्रोधपूर्वक अपने धनुष को खींचकर, मुझे अत्यन्त ही पीड़ित कर रहा है ॥१५

[सोचकर] मेरे प्रिय मित्र रसालक इस समय भी दिखाई पड़ रहे हैं । मित्र पर अन्तर का क्लेश प्रकट कर देने से वह कम हो जाता है ।

[इसके बाद विदूषक प्रवेश करता है ।]

विदूषकः—कुत्रेदानी पश्यामि इह घोर अन्धकारे कुत्रापि लुठन्तं मदनवेदनोद्विग्नं^१ प्रियवयस्यम् । अगतोऽवलोकन कथम् इह एव अनावरणाभरणप्रतापभासुरो दृश्यते वातुल इव परिभ्रमन्नेषः^२ । तदिदानीमेतस्य प्रियं निवेद्य सकलानामपि मन्त्रिवराणां शिरसि चरणं^३ दास्यामि^४ । (किर्हिदारिणि पेक्खामि इध घोर अन्धआरे कर्हिपि लुडन्तं मदनवेदणाउब्बिग्नं पिअवअस्सं । (अगतोऽवलोक्य) कधं इधज्जेव अणावरणाभरणप्पतापभासुरो दीसदि बाचिलोविअ परिभ्रमन्तो एसो । तदारिणि एदस्स पिअं णिवेदिअ सअलाणं वि मन्त्रिवराणांशिरे चलणं दइस्सं ।)

(इत्युपसर्पति)

राजा—सखे ! एह्येहि । कथय कथं वा मम विनोदनीयं मदनवेदनाविद्वनं हृदयम् ।

न्यूनीभवति । लुठन्तम्—इतस्ततः पतन्तं, मदनवेदनोद्विग्नम्—कामपीडया व्याकुलम् । अनावरणाभरणप्रतापभासुरः—वस्त्राभूषणरहितोऽपि प्रतापमात्रेण शोभमानः, वातुलः—उन्मत्तः । शिरशि चरणं दास्यामि—सर्वतः श्रेष्ठो भविष्यामि । मदनवेदनाविद्वनम्—कामपीडाव्यथितम् ।

विदूषक—इस घोर अन्धकार के मध्य कामवेदना से पीड़ित अपने प्रिय मित्र को कहाँ देख सकूंगा ? [सामने देखता हुआ] अरे, यहीं वस्त्राभूषणों से सुसज्जित न होते हुए भी केवल अपने प्रताप से प्रकाशमान वे एक उन्मत्त की भाँति घूमते दिखाई दे रहे हैं । तो अब उनके प्रिय सन्देश का कथन करके मैं समस्त श्रेष्ठ मन्त्रियों के सिर पर चरण रख लूंगा ।

[यह कहकर राजा के निकट पहुँचता है]

राजा—मित्र ! आओ, आओ । यह बताओ कि मदनवेदना से पीड़ित मेरा हृदय कैसे बहलाया जाय ?

१ मदनवेदनोद्विग्नं मू० पा० । २ परिभ्रमन्नेषः मू० पा० । ३ चरणं मू० पा० । ४ दाम्यासि मू० पा० ।

विदूषकः—यस्य तवाहम् अतिशयितसकलमन्त्रिबुद्धिविभवः^१ प्रियवयस्यः तस्य कथं मदनवेदनाया अप्यवकाशः । (जस्स दे अहं अदिसइदसअलमन्त्रिबुद्धिविहबो पिअबअस्सो तस्स कथं मदणवेदणाएवि अबआसो ।)

राजा—कथय, कथं नाम ?

विदूषकः—एषा खलु इदानीमेव अदूरस्थितं मणिमण्डपम् आनीता मया सह सुनन्दनया^२ । यदिदानी^३ मत्किंतमेघमण्डलीव कुतोऽप्यागत्य देवी अन्तराया^४ न भवति तदा उपलब्धव्या त्वया चन्द्रकला । (एसा-क्खु दाणि ज्जेव अदूरबट्टिदं मणिमण्डवं आणिदामए सह सुणं दणाए । अजदिदाणिं अथक्किदमेहमण्डलीविअ कुदोवि आअदुअ देवी अन्तरा ण भोदि उबलद्धव्या तए चन्दअला ।)

ततः प्रविशति माधविकया निर्दिश्यमानमार्गा देवी रतिकला च ।

अतिशयितसकलमन्त्रिबुद्धिविभवः—अतिशयितः अतिक्रान्तः सकलानां समस्तानां मन्त्रिणां बुद्धिविभवः धीसम्पदा येन तादृशः । अदूरस्थितं—समीपवर्तिनम् । अतर्कितमेघमण्डली—अतर्किता असम्भाविता मेघमण्डली जलदपक्तिः, अन्तराया—विघ्नरूपा उपलब्धव्या—प्राप्तव्या । निर्दिश्यमानमार्गा—निर्दिश्य

विदूषक—समस्त मन्त्रियों के बुद्धि-वैभव को पराजित कर देने वाला मुझ जैसा जिसका प्रिय मित्र है, उसको मदनवेदना का अवसर कहाँ ?

राजा—बताओ, किस प्रकार ?

विदूषक—उसे तो अभी-अभी सुनन्दना के साथ यहाँ से निकट ही मणि-मण्डप में ले आया हूँ । अब यदि, अचानक मेघ-मण्डली की भाँति देवी कहीं से आकर विघ्न न बन जायें तो चन्द्रकला तुम्हें प्राप्त हो जायगी ।

[इसके बाद माधविका द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से महारानी अपनी सखी रतिकला के साथ आती है ।]

१ अतिशयितसकलमन्त्रिबुद्धिविभवोक्तः मू० पा० । २ सुनन्दया मू० पा० ।

३ तदिदानीम् मू० पा० । ४ अन्तरायो मू० पा० ।

देवी—चेटि ! एवमपि नाम भवेत् । (हञ्जे ! एवं पि नाम भवे ।)
माधविका—पश्यतु भट्टिनी । (पेक्खदु भट्टिणी ।)

(इत्यङ्गुल्या निर्दिशति)

देवी—(विलोक्य) सखि रतिकले ! किमिदानीं कुमं : (हला-
रदिअले ! किं दाणिं करेम्ह ।

रतिकला—प्रच्छन्ना एतम् अनुगच्छन्त्यः^१ सर्वं जानीमः (पच्छ-
न्नाज्जेब एदं अणु गच्छन्ति सब्ब जाणम्ह ।)

राजा—सखे ! केन पुनरुपायेन इत आनीताऽप्येषा ।

विदूषकः—एवमिव । (एवं विअ ।)

[इति कर्णो कथयति]

राजा—[सहर्षम्] सखे ! तदेतत्तव पारितोषिकम् । [इति कङ्कणं
दत्त्वा] तदिदानीं दर्शय कुतः प्रियतमा ।

[ततः प्रविशति सोत्कण्ठा चन्द्रकला सुनन्दना च]

मानः उच्यमानः मार्गः पन्थाः यस्यै तादृशी । प्रच्छन्नाः—गुप्ताः, अनु-
गच्छन्त्यः—अनुसरन्त्यः । पारितोषिकम्—पुरस्कारः । सनिर्वेदं—महता

देवी—चेटिके ! निश्चित ही यह संभव है ।

माधविका—देखिए, महारानी ! [कहती हुई अंगुली से निर्देश करती है] ।

देवी—[देखकर] सखी रतिकला ! इस समय क्या करना चाहिए ।

रतिकला—छिपकर इसका अनुसरण करती हुई हम लोग सब जान लें ।

[वैसा ही करती हैं]

राजा—मित्र ! वह यहाँ किस प्रकार लायी गई ?

विदूषक—इस प्रकार (कान में कहता है)

राजा—(हर्षित होकर) मित्र ! तो यह रहा तुम्हारा पुरस्कार ।

(कहते हुए कंकण देकर) तो प्रियतमा कहाँ है ? दिखाओ ।

(इसके बाद उत्कण्ठा-युक्त चन्द्रकला और सुनन्दना का प्रवेश)

१ अनुगन्त्यः सू० पा० ।

चन्द्रकला—(सनिर्वेदं दीर्घं निःश्वस्य) सखि ! अकारणं किमिति मां पुनः पुनर्वञ्चयन्ती^१ क्लेशयसि ? अहमिदानीमस्यामशोकशाखायां कण्ठे लतापाशं बद्ध्वा आत्मानं व्यापादयामि । मा मामिदानीं निवारयस्व । (हला ! अआरण कोसमं पुणो पुणो बञ्चयन्ति किलिसा^२ भवेसि । अहं दाणीं एमाए असोअसहाए कण्ठे लदापासं^३ उब्बन्धिअ अत्ताणं बाबादेमि । मा मं इदाणीं णिबारेसु ।)

सुनन्दना—सखि ! मा उत्ताम्य । मम वचनेन क्षणमपि परिपालयस्व भर्तुरागमनम् । (हला ! मा उत्तमह । मह वअणेण खणंपि पडिवालेसु भट्टिणो आअमणम् ।)

विदूषकः—एतु एतु प्रियवयस्यः । (एदु एदु पिअवअस्सो ।)

(इत्युभौ परिक्रामन्तिः—सर्वा अनुक्रामन्ति)

विदूषकः—पश्यतु पश्यतु प्रियवयस्यः । एषा सा आत्मन एव अङ्गकान्त्या महान्धकारेऽपि प्रकाशिता ते प्रियतमा । (पेक्खदु पेक्खदु

कण्ठेन—सहितम्, वञ्चयन्ती—प्रतारयन्ती, क्लेशयसि—कण्ठं ददासि । लतापाशं—लतायाः बन्धनीम्, व्यापादयामि—मारयामि । निवारयस्व—निषेध मा उत्ताम्य—निराशा भूत्वा अलम्, निराशा मा भवेति यावत् । परिपालयस्व—प्रतीक्षस्व । अनुक्रामन्ति—पश्चात् चलन्ति । अङ्गकान्त्या—शरीरतेजसा ।

चन्द्रकला—[लम्बी साँस लेकर] सखी ! क्यों मुझे बार-बार धोखा देकर दुःख देती हो ? मैं अब लता-पाश के द्वारा इसी अशोक की डाल में अपना गला बाँधकर हत्या कर लूंगी । अब मुझे रोकना मत ।

सुनन्दना—सखी ! हताश न हो । मेरे कहने के अनुसार क्षण भर तो महाराज के आने की प्रतीक्षा करो ।

विदूषक—आओ मित्र ! आओ । (दोनों चलते हैं । सभी स्त्रियाँ अनुसरण करती हैं ।)

विदूषक—देखो प्रिय मित्र ! देखो-तुम्हारी प्रियतमा अपने अगों की कान्ति

पिअबअस्सो । एसा सा अत्तणोज्जेव अङ्गकन्तिए महअन्धआरेवि
पआसिदा दे पिअदमा ।)

राजा [विलोक्य सहर्षम्] अये, अस्याः खलु—

बिम्बस्यासुकृतेन दन्तवसनं मत्तेभकुम्भद्वय—
स्यापुण्येन पयोधरौ कुवलयस्याकर्मणा चक्षुषी ।

इन्दोभाग्यविपर्ययेण वदनं कुन्दावलेरेनसा,
दन्ताली कदलीतरोश्च दुरितेनोरुद्वयं निर्मितम् ॥१६

किञ्च,

मध्येन मध्यं तनुमध्यमा मे पराजयं नीतवतीति रोषात् ।

बिम्बस्य—बिम्बफलस्य, असुकृतेन—अपुण्येन, दन्तवसनम्—ओष्ठम्
मत्तेभकुम्भद्वयस्य—मत्तगजस्य शिरसः मांसपिण्डद्वयस्य, अपुण्येन—पापेन
पयोधरौ—कुचौ, कुवलयस्य—नीलकमलस्य, अकर्मणा—निन्दितकर्मणा
चक्षुषी—नेत्रे, इन्दोः—चन्द्रस्य, भाग्यविपर्ययेण—दैवप्रातिकूल्येन
वदनं—मुखम्, कुन्दावलेः—कुन्दपुष्पाणां पंक्ते, एनसा—पापेन, दन्ताली—
दन्तपङ्क्तिः, कदलीतरोश्च—कदलीवृक्षस्य, दुरितेन—पापेन, ऊरुद्वयं—
जङ्घायुगलं, निर्मितम्—रचितम् (अत्र शाद्वलविक्रीडितं छन्दः) ॥१६

तनुमध्यमा—कृशतरकटीदेशा, मध्येन—कटीदेशेन, मे—मम, सिंहस्य,
मध्यं—कटिदेशं, पराजयं नीतवती—पराजितवती इति रोषात्—क्रोधात्

से इस अन्धकार में भी प्रकाशित हो रही है ।

राजा—[देखकर हर्ष के साथ] अहा ! इसके

ओष्ठ कदाचित् बिम्बाफल के अभाग्य से, दोनों कुच मत्त हाथी के शिर
के दोनों मांस-पिण्ड के दुभाग्य से, अंखि नीलकमल के पापोदय से मुख चन्द्रमा
के भाग्यपरिवर्तन से, दन्तपङ्क्ति कुन्दपुष्पों की पङ्क्ति के पाप से और दोनों जंघाओं
कदलीवृक्ष के पाप के कारण बन पड़े हैं (कवि का तात्पर्य यह है कि इसके
शरीरांग—ओष्ठ, कुच, नेत्र मुख दन्तावली और जांघें क्रमशः बिम्बाफल मत्तगज
के कुम्भद्वय, नीलकमल चन्द्रमा, कुन्दपुष्प और कदली वृक्ष की सुन्दरता को लजाने
वाले हैं) ॥१६

और भी, सिंह इस विचार से कि इस शीमाकटि सुन्दरी ने मेरी कटि

कण्ठीरवोऽस्याः कुचकुम्भतुल्यं मत्तेभकुम्भद्वितयं भिनत्ति ॥१७॥
 देवी—[निःश्वस्य] अहो, महाभिनवेशोऽस्यां दुष्टकन्यकाया-
 मार्यपुत्रस्य । सखि ! तदेहि इह भित्त्या अन्तरिता उपरिवृत्तान्तं पश्यामः ।
 (अहो महअहिणिवेसो एदाए दुट्टकण्णआए अज्जउत्तस्स । हला, ता
 एहिं इम भित्तिए अन्तरिदा उबरिबुत्तन्तं पेक्खम्ह ।)

[इति सर्वा^१ अन्तरिताः पश्यन्ति]

राजा—सखे ! तदेहि निर्वापयामो मदनसन्तप्तमात्मानमनया^२ ।

[इत्युपसर्पतः]

चन्द्रकला [विलोक्य सचकितव्रीडं सहसोत्थाय मुखं नमयन्ती

कण्ठीरवः—सिंहः, अस्याः—नायिकायाः, कुचकुम्भतुल्यं—स्तनकुम्भसदृशं, मत्ते
 भकुम्भद्वितयं—मत्तागजकुम्भयुगलं, भिनत्ति—नखराघातेन विदारयति । अत्र
 प्रत्यनीकमलङ्कारः प्रतीपालङ्कारश्चेत्यनयोरेकाश्रयानुप्रवेशरूपः सङ्करः ।
 उपजातिश्छन्दः ११७

महाभिनवेशः—महती अनुरक्तिः । भित्त्या—कुड्येन, अन्तरिताः—
 प्रच्छन्नाः, उपरिवृत्तान्तम्—अग्रिमघटनाम् । निर्वापयामः—शमयामः, मदनस-

की क्षीणता को पराजित कर दिया, क्रुद्ध होकर इसके कुचकुम्भों की भांति मत्त
 गज के दोनों कुम्भों को विदीर्ण कर रहा है ॥१७॥

देवी—[लम्बी सांस लेकर] आह ! महाराज का इस दुष्ट कन्या के प्रति
 तो बड़ा ही अधिक अनुराग है, सखी ! तो आओ, दीवार की ओट से सारे
 क्रिया-कलापों को देखें ।

[कहकर सय ओट में चली जाती हैं]

राजा—सखे ! चलो, इससे अपने काम-सन्तप्त हृदय को शान्त करूँ ।

[दोनों समीप जाते हैं]

चन्द्रकला—[आश्चर्य से लज्जित-सी होती, सहसा उठकर, अपना मुख
 नीचे किये, हर्ष से मन ही मन] आश्चर्य ! अभी तक जिस जीवन को मैं विष

सानन्दमात्मगतम्] आश्चर्यं, यत्किलेदं जीवितं हलाहलमिति सम्भावितं तदिदानीं कथं महाभागधेयेन अमृतत्वेन परिणतम् । (अम्महे जं किल एदं जीविदं हलाहलंति सम्भाविदं तादानीं कथं महाभाअधे-
एण अमित्ततोण पणिणदं ।)

राजा—वैलक्ष्यस्य भवत्यसाववसरो नैतावतस्तेऽधुना,
किं नामाननचन्द्रमानमयसि प्राणाधिके प्रेयसि ।
एभिर्गाढमनङ्गमञ्जुल गृहैरालिङ्ग्य मामङ्गकै-
रेणप्रेक्षणि ! पञ्चबाणविशिखक्षीणं विनिर्वापय ॥१८

देवी—[रतिकलां तिर्यगवलोक्य] सखि ! पुनरपि मह्यं मालपि-

न्तप्तम्—कामपीडितम्, सचकितव्रीडम्—विस्मयेन लज्जया च सहितम्, नम-
यन्ती—अधःकुर्वन्ती । जीवितं—जीवनं, हलाहलम्—एतन्नामकं विषम्, सम्भा-
वितं—ज्ञातमित्यर्थः, महाभागधेयेन—महानुभावेन स्वामिना, अमृतत्वेन परिण-
तम्—अमृतं निर्मितम् ।

अधुना—इदानीम्, ते—तव, एतावतः—इत्यपरिमाणस्य, वैलक्ष्यस्य—
लज्जायाः, असौ, अवसरः—समयः, न भवति—नास्ति, प्राणाधिके—
प्राणेष्वोऽपि गरीयसि ! प्रेयसि—प्रियतमे ! किं नाम—किमर्थम्, आनन-
चन्द्रं—मुखचन्द्रम्, आनमयसि—नीचैः करोषि ? एणप्रेक्षणि—मृगनयने !
पञ्चबाणविशिखक्षीणं—मदनबाणैः सन्तप्तं माम्, एभिः, अनङ्गमञ्जुलगृहैः-
मदनसुन्दरनिवासभूतैः, अङ्गकैः—अवयवैः, गाढं—दृढं यथा स्यात् तथा
आलिङ्ग्य—परिरभ्य विनिर्वापय—शमय । अत्र शादूलविस्त्रीडितं छन्दः । १८
तिर्यक्—वक्रं यथा स्यात् तथा, अवलोक्य—दृष्ट्वा । आलपिष्यति—

समझ रही थी, वही महाराज के द्वारा अमृत में बदल गया ।

राजा—लज्जा करने का यह अवसर नहीं है । हे प्राणों से भी अधिक
प्यारी ! अपना चन्द्रानन नत क्यों कर रही हो ? हे मृगनयनी ! इस समय तो
चाहिए कि तुम काम-बाण से पीड़ित मुझको कामदेव के सुन्दर आवास रूप
इन अंगों से आलिंगन करके शान्ति प्रदान करो । १८-

देवी—[रतिकला पर तिरछी चितवन डालती हुई] सखी !

१. मञ्जुल मू० पा० । २. मां मू० पा० ।

प्यत्यार्यपुत्रः । (हला पुणोबि मं आलविस्सदि अज्जउत्तो ।)

सुनन्दना—सखि ! किमेवं प्रतिपद्यसे । कुरुष्व तावद्भर्तृवचनम् ।
(हला किं एवं पडिबज्जसि । करसु दाब भट्टिणो बअणं ।)

माघविका—भट्टिनि ! शृणुष्व तावत् तव विश्वसनीयाया वचनम् ।
भट्टिनि ! सुण दाब तुह बिससणीआए बअणं ।)

देवी—चेटि ! कालसर्पी^१ किल नीलमणिमालारूपेण कण्ठे वसतीति
को^३ जानाति । (हज्जे^४ ! कालसप्पी किअ नीलमणिमालाऋबेण
कण्ठे बसदित्ति को जाणादि ?)

चन्द्रकला—[सगद्गदस्वरम्] सखि ! देवीप्रकोपभीते महाराजे
अस्माकं को विश्वासः ! (हला, देवीपओबभीदे महाराए अम्माणं^५ को
बिसहो ।)

देवी—(अहो ! मम प्रियसख्याः प्रियसखीत्वमेतत् । (अब्बो, महि
पिअसहीए पिअसहीतुअ एदं ।)

सम्भाषण करिष्यति । प्रतिपद्यसे—आचरसि । भर्तृवचनम्—स्वामिनः आज्ञाम् ।
विश्वसनीयायाः—विश्वासपात्रस्य । कालसर्पी—कालसर्पिणी, नीलमणिमाला-
रूपेण—नीलमणि (नीलम)—निर्मितमालास्वरूपेण । देवीप्रकोपभीते—देव्याः
महाराज्याः प्रकोपेन क्रोधेन भीते त्रस्ते ।

महाराज फिर भी संलाप करेंगे ?

सुनन्दना—सखी ! यह क्या कह रही हो ? स्वामी की आज्ञा का पालन
करो ।

माघविका—स्वामिनी ! अपनी विश्वासपात्र का वचन सुनिए ।

देवी—चेटिके ! कौन जानता है कि नीलमणि की माला के रूप में गले में
स्थित यह कालसर्पिणी है ।

चन्द्रकला—[गद्गद स्वर में] सखी ! देवी के क्रोध से भयभीत महाराज
पर हमारा क्या विश्वास है ?

देवी—ओह ! मेरी प्रिय सखी का यह स्नेहशील सौहादं है ?

१. विश्वसनीयावचनं मू० पा० । २. कालसर्पि मू० पा० । ३. को न
जानाति मू० पा० । ४. हज्जे मू० पा० । ५. अम्माणं मू० पा० ।

राजा—प्रेमबन्धनिबद्धा मे न देवी न च मेदिनी ।

इतः प्रभृति तन्वद्भि ! त्वमेव मम जीवितम् ॥१६

देवी—[निशम्य साक्षम्] सखि रतिकले । इदमपि मया संह्यते ।
(हृच्छे रदिअले, एवं पि मए सहेदि)

रतिकला—सखि ! पुरुषाणां भ्रमराणां स्वभाव एषः यत्किल नवं नवमेव अनुधावन्ति । [हला, पुरिसभमराणं सुहावो एसो जं किरणवं णवं एवं अणुधावन्दि)

चन्द्रकला—सखि सुनन्दने ! देवीं प्रेक्ष्य सर्वं खलु विस्मरिष्यति महाराजः । (सखि, सुणदणे ! देई पेक्खि सव्वं क्खु विस्समेरिस्सेदि महाराओ ।)

देवी—सखि ! शृणु, तावत् शृणु तावत् । आर्यपुत्रस्य दर्शन-मात्रकेणापि एतस्या दुष्टकन्यकाया एवंविधानि आलपितानि । (हला सुणेहि दाव सुणेहि । अज्जउत्तकेण दंसणमत्तकेण पि एदाए दुट्ठकण्ण-आए एव्वं विहाणि आलपिदाणि ।)

मे—मम, प्रेमबन्धनिबद्धा—प्रेम्णः बन्धनेन बद्धा, देवी, न—नहि, मेदिनी पृथ्वी च, न, तन्वद्भि !—क्षीणाङ्गि इतः प्रभृति—इत आरभ्य, त्वमेव, मम जीवितं—जीवनम् असि) । अत्र अनुष्टुप् छन्दः १९६

निशम्य—श्रुत्वा साक्षम्—अश्रुणा सहिम् । अनुधावन्ति—पश्चाद् वेगेन गच्छन्ति । आलपितानि—भाषाणानि । व्याहरसि—वदसि । अद्य प्रभृति-

राजा—मेरे लिए प्रेम के बन्धन मे बँधी हुई न तो देवी है और न पृथ्वी ! हे सुन्दरी ! आज से तुम ही मेरे प्राण हो ॥१६

देवी—[सुनकर आँसू के साथ] सखी रतिकला ! यह भी मुझे सहना पड़ता है ।

रतिकला—सखी ! पुरुषों और भौरों का यह स्वभाव होता है कि वे नये नये के पीछे दौड़ते रहते हैं ।

चन्द्रकला—सखी ! सुनन्दना ! महारानी को देखकर महाराज सब कुछ भूल जायेंगे

देवी—सखी ! सुनो, सुनो । आर्यपुत्र के मात्र दर्शन से भी यह दुष्ट कन्या इस तरह बोध रही है ।

रतिकला—सखि ! एवमेतत् । (सहि ! एवं एदं ।)

राजा—प्रिये ! किमेवं व्याहरसि^१ । अद्य प्रभृति निदेशवर्ती^२
तवायं जनः ।

विदूषकः [सहर्षम्] अम्महे, आश्चर्यं यदि एतस्याः प्रियवयस्य
आज्ञाकरः ततः सर्वा अप्यन्तः पुरिण्यः आज्ञाकरिण्यः । (अच्चरिअं, जइ
एदाए पिअवअस्सो अण्णाकरः ता सव्वा अपि अंदेउरिणियो अण्णा-
कारिणी ओत्ति ।)

देवी—[सरोषमुपसृत्य] आः राजवयस्य महाब्राह्मण ! अहमपि
एतस्या आज्ञाकरिणी ? (आः राअवअस्स महाब्राह्मण अहं वि एदाए
अण्णाकारिणीओत्ति ।)

[इति पुनः पुनरधिक्षिपति]

चन्द्रकला—[सभयोत्कम्पम्) अहो, अहो ! किमिदानीमापतितम् ।
(अम्भो, किं दाणिं आपदिदं ?)

अद्यारम्भ, निदेशवर्ती—आज्ञाकारी । अन्तःपुरिण्यः—अन्तःपुरनिवासिन्यः ।
राजवयस्य—राज्ञः सखे ! महाब्राह्मण—अधमब्राह्मणेति यावत्,
अधिक्षिपति—निन्दति । सभयोत्कम्पम्—भयमूलककम्पनेन सह । मा मह्यं,

रतिकला—सखी ! ऐसा ही होता है ।

राजा—प्रिये ! ऐसा क्यों कहती हो ? आज से मैं तुम्हारा आज्ञाकारी हूँ ।

विदूषक—[हर्ष के साथ] अमाँ ! आश्चर्यं है । यदि आप इसके आज्ञाकारी
हुए तो अन्तःपुर की सभी स्त्रियाँ इसकी आज्ञाकारिणी हुईं ।

देवी—[क्रोध के साथ पास जाकर] ओ राजा का मित्र अधम ब्राह्मण !
मैं भी इसकी आज्ञाकारिणी हुईं ?

[कहकर बार-बार धिक्कारती है]

चन्द्रकला—(भय से काँपती हुई) हाय ? यह क्या आ पड़ा ?

सुनन्दना—[सभयोत्कम्पम्] अहो ! किमिदानीं करिष्यामि !
(अम्मो किं दाणिं करिस्सं ?)

विदूषकः—[सोद्वेगम्] भवति ! मा मह्यं कुप्य^१ । (भोदि,
मा अम्हेहि कुप्पं ।)

राजा—[सनिर्वेदमात्मगतम्] इदानीं खलु चेतनापि मे नात्मनो
वशंवदतामवलम्बते ।

देवी—सखि रतिकले ! चेति माधविके ! एष खलु दुष्टब्राह्मणः
इयं गर्भदासी सुनन्दना द्वे अपि एकेनैव लतापाशेन एकीकृत्य बद्ध्वा
गृह्येताम् । इयं च दुष्टकन्यका आत्मन एवोत्तरीयेण हस्ते
सुदृढम् आपीड्यताम् । (हला रदिअले, हज्जे माहविए, एसो व्खु
दुठो बह्माणो एदा गव्भदासी सुणंदणा दुवे वि एक्केण एव्व लदापासेन
एक्किकी कदुअ बड्ढा गण्हीत । इमं अ दुट्ठकण्णआ अत्तणो एव्व
ओत्तरीएण हत्थे सुदीड्ढं अप्पीड्ढत ।)

(उभौ तथा कुरुतः)

कुप्य—ममोपरि क्रोधं मा कुरु । सनिर्वेदम्—दुःखसहितम् ! चेतना—संज्ञा ।
वशंवदताम्—अधीनत्वम् । न अवलम्बते—न आश्रयति । उत्तरीयेण—प्रावा-
रेण, आपीड्यताम्—बध्यताम् ।

सुनन्दना—[भय से कांपती हुई] हाय ! अब क्या करूँगी ?

विदूषक—[व्याकुलता से] देवि ! मेरे ऊपर क्रोध न करें ।

राजा—[दुःख के साथ मन में] इस समय मेरी चेतना भी स्वयं मेरे
वश में नहीं है ।

देवी—सखी रतिकला ! दासी माधविका ! इस दुष्ट ब्राह्मण और
दासीपुत्री सुनन्दना, दोनों को एक ही लतापाश में बाँधो और इस दुष्ट
कन्या के हाथों को इसी की ओढ़नी से कसकर बाँध लो ।

[दोनों उसी प्रकार करती हैं]

विदूषकः—आश्चर्यमाश्चर्यं, कथं बन्धनात् अपि एतस्याः गर्भदा-
स्याः सुनन्दनाया कठोरस्तनभरेणापीडनं गुरुकं मे अङ्गं बाधते ।

(अच्चरिअं-अच्चरिअं, कंहं बंधणादो वि एदाए गवभदासीए सुणंद-
णाए कठोरत्थणभरेण आपीढणं गुरुअं मह अंगं बाधेदि ।)

देवी—सखि रतिकले ! चेति माधांवके ! एतानि इदानीमग्रतः
कृत्वा गच्छतम् । (हला रदिअले, हज्जे माहवीए, एदाहिं दारिणं अग्ग-
दो कदुअ गच्छेहि ।)

[इति राजवर्जं निष्क्रान्ताः]

राजा—[सनिर्वेदं दीर्घमुच्छ्वस्य^१]

देव्याः प्रेक्ष्य समक्षमन्य^२ वनितासङ्गं ममैतादृशं,
मानस्त्याजयितुं कथं नु भविता शक्योऽतिभूमिं गतः ।

कठोरस्तनभरेण—कठिनयोः कुचयोः भारेण, आपीडनं—पीडा ।

मम, एतादृशम्, अन्यवनितासङ्गम्—अन्यरमणीसहवासं, समक्षं—
सम्मुखं, प्रेक्ष्य—दृष्ट्वा, देव्याः, अतिभूमिं—परां काष्ठां, गतः—प्राप्तः,
मानः—अहंकारोत्पन्नः क्रोधः, त्याजयितुं—दूरीकर्तुं, कथं नु—केन प्रकारेण
शक्यः, भविता—भविष्यति ? मत्कृते—मदर्थं मुघा—व्यर्थं, सुहृदा—

विदूषक—आश्चर्य ! आश्चर्य ! ! इस गर्भदासी सुनन्दना के कठोर स्तन,
बन्धन से भी अधिक मेरे अंगों को पीड़ित कर रहे हैं ।

देवी—सखी रतिकला ! और चेटी माधविका ! अब इन्हें आगे करके
चलो ।

[राजा को छोड़कर सभी चली जाती हैं]

राजा—[दुख के साथ लम्बी सांस लेकर]

अन्य रमणी के साथ मुझे देखकर महारानी का रोष पराकाष्ठा पर पहुँच
गया है । उसको कैसे हटाया जा सकेगा ? ऐसा लगता है कि विनाश स्वयं

बद्ध्वा^१ नीयत वल्लभा च सुहृदा सार्धं मुग्धा मत्कृते,
निर्गच्छन्निव^२ नाशकोऽपि^३ सहसा तत्किं विधेयं मया ॥२०

[विचिंत्य]

तदलमिदानीमत्र स्थित्वा । पुरमेव प्रविश्योपायं चिन्तयामि ।

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे]

तृतीयोऽङ्कः

मित्रेण, सार्धं—सह, वल्लभा—प्रिया च बद्ध्वा, अनीयत—दूरं
प्राप्यत, नाशकोऽपि—विनाशोऽपि, सहसा—हठात्, निर्गच्छन्निव—निः-
सरन्निव (भाति) तत् मया किं विधेयं—कर्तव्यम्? अत्र शार्दू-
लविक्रीडितं छन्दः ॥२०

अलं स्थित्वा—अत्र अवस्थानं नोचितमित्यर्थः । अत्र स्थाघातोः अलमि-
त्यस्य योगे अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' इति पाणिनिसूत्रेण क्त्वा-
प्रत्ययः ।

कहीं से आकर अचानक उपस्थित हो गया है । मेरे कारण व्यथं में मेरी प्रिय-
तमा मेरे प्रिय मित्र के साथ बाँधकर दूर हटा दी गयी है । तो अब मुझे क्या
करना चाहिए ? ॥२०

(सोचकर)

तो अब यहाँ रुकना व्यथं है । महल में ही चलकर कोई उपाय सोचूं ।

[सभी चले जाते हैं]

तीसरा अंक समाप्त

१-बद्ध्वा मू० पा० । २ निर्गन्त च मू० पा० । ३ नासवोऽपि मू० पा०

चतुर्थोऽङ्कः

[ततो प्रविशति निर्विण्णो राजा]
 राजा—[दीर्घमुच्छ्वस्य १]

पीतं कर्णपुटद्वयेन गरलं भृङ्गीनिनादाभिधं,
 प्रालेयांशुकरच्छलासु^३ दहनज्वालासु गात्रं हुतम् ।
 भूयो भूय इति स्वयं विदधता^३ नीता मया यामिनी,
 निर्याताः कथमश्मसारकठिनाः केनापि नैवासवः ॥१

आलप्य वञ्चनपरं बहुचाटुगर्भ-

भृङ्गीनिनादाभिधं—भ्रमरीगुञ्जननामकं, गरलं—विषं, कर्णपुटद्वयेन—कर्णाभ्यामित्यर्थः पीतम्—अपायि, प्रालेयांशुकरच्छलासु—प्रालेयांशुकरः चन्द्रकिरणः छलम् मिषः यासो तासु, दहनज्वालासु—अग्निज्वालासु, गात्रं—शरीरं, हुतम्—अहूयत, स्वयम्—आत्मनैव, भूयोभूयः—मुहुर्मुहुः, इति—इत्थं विदधता—कुर्वता, मया, यामिनी—रात्रिः, नीता—व्यतीता, अश्मसारकठिनाः—लौहवत् कठोराः, असवः—प्राणाः, कथं केनापि, नैव-निर्यातः—निर्गताः । अत्र शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥१

बहुचाटुगर्भम्—अनेकचाटुकारिताशब्दपूर्वकं, वञ्चनपरं—कपटपूर्णं, (वचनम्) आलप्य—कथयित्वा, चिरं—चिरकालं यावत्, अंग्रिदले-

[इसके बाद दुःखी राजा प्रवेश करता है]

राजा—[लंबी सांस खींचकर] मैंने भौरों के गुंजार रूपी विष को अपने कर्णपुटों से पीया और चन्द्रकिरणों के रूप में धधकती हुई अग्निज्वाला में अपने शरीर को होम किया । इस प्रकार स्वयं बार-बार करते हुए मैंने रात बितायी; किन्तु लोहे के समान कठोर मेरे प्राण क्यों नहीं किसी प्रकार निकले यह आश्चर्य है ॥१

कपटपूर्णं, मिथ्या प्रशंसा के शब्द कहकर भी मैं कितनी देर से महारानी

१ दीर्घमुत्स्वस्य मू० पा० । २ छलामु मू० पा० । ३ विदधता इति

पाठान्तरम् ।

मेष स्थितोऽस्मि चिरमंघ्रितले निपत्य ।

आलीजनैरभिहितापि तथा मदर्थं

देवी कथञ्चन पुनर्न गता प्रसादम् ॥२

[विचिन्त्य सकरणं निःश्वस्य आकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा]

हे दुर्देव ! यदा चिरस्य भवतो भूयोऽपराद्धं मया,
तन्मय्येवमनारतं प्रहरतो वक्ष्ये न किञ्चित्तव ।
बद्ध्वाऽङ्गेषु दृढं शिरीषकुसुमप्रायेषु यत् प्रेयसी,
नीता जीवितसंशयं कथय तत्किं वा कृतं तेऽनया ॥३

पादतशे, निपत्य—पतित्वा एषः—अहम्, स्थितोऽस्मि—विद्यमानोऽस्मि,
तथा, मदर्थं—मत्कृते, आलीजनैः—सखीजनैः, अभिहितापि—निवेदि-
तापि, देवी, पुनः—भूयः, कथञ्चन—केनापि प्रकारेण, प्रसादं—प्रसन्नतां,
न गता—न जाता । अत्र वसन्ततिलकं छन्दः ।२

हे दुर्देव—हे दुर्भाग्य ! यदा, चिरस्य—चिराय, मया, भवतः—तव,
भूयः—वारं-वारम्, अपराद्धम्—अपराधः कृतः, तत्—तस्मात् मयि,
एवम्—इत्थम्, अनारतं—सततं, प्रहरतः—प्रहारं कुर्वतः तव न कि-
ञ्चित् वक्ष्ये—कथायिष्यामि (किन्तु) यत् प्रेयसी—प्रियतमा, शिरीष-
कुसुमप्रायेषु—शिरीषपुष्पवत् कोमलेषु, अङ्गेषु—अवयवेषु, दृढं, बद्ध्वा
जीवितसंशयं—प्राणसन्देहं, नीता—प्रापिता, तत्, कथय—ब्रूहि, अनया—मे-
प्रेयस्या, ते—तव, किं वा कृतं—विहितम् । अत्र शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ।३

के चरणों में नत हूँ । इतना ही नहीं, मेरी ओर से सखियों द्वारा वार-वार
निवेदन करने पर भी महारानी पुनः मेरे ऊपर प्रसन्न नहीं हुई ।२

[सोचकर, दुःख की साँस लेकर, आकाश की ओर दृष्टि गड़ाकर]

हे दुर्भाग्य ! जब चिरकाल से मैंने तुम्हारा वार-वार अपराध किया तब
जो तुम मुझ पर इस प्रकार सतत प्रहार कर रहें हो, इसके लिए मैं तुमसे
कुछ नहीं कहूँगा, किन्तु मेरी प्रियतमा के शिरीष-पुष्प से कोमल अंगों को
दृढ़ता के साथ बाँधकर प्राणों को ही संशय में जो डाल दिया तो बताओ
उसने तुम्हारा क्या विगमना है ।३

[पुनर्निःश्वस्य सास्रम्] हा वयस्य ! त्वमपि मत्कृते जीवित-
मपहारयिष्यसि ।

[ततः प्रविशति विदूषकः]

विदूषकः—[राजानं प्रति] स्वस्ति भवते प्रियवयस्याय । (सोत्थि
भोदु पिअवअस्सस्स)

राजा—[विलोक्य सहर्षम्] दिष्ट्या जीवति प्रियवयस्यः ।

विदूषकः—भो वयस्य ! देवी विज्ञापयति—मम तातस्य नगरात्
इह वन्दिनः समागताः । ते इदानीम् आर्यपुत्रसहिताया मम दर्शनसमु-
त्सुका वर्तन्ते । अहमपि सुचिरादधिगतबन्धुकुलवृत्तान्ता श्रोतुमुत्क-
ण्ठिता ।

सास्रम्—अश्रुणा सहितम् । जीवितं—प्राणान्, अपहारयिष्यसि—नाशयि-
ष्यसि । स्वस्ति—कल्याणम् । दिष्ट्या—भाग्येन ।—वन्दिनः—स्तुतिपाठकाः ।
दर्शनसमुत्सुकाः—दर्शनोत्कण्ठाः । सुचिरादधिगतबन्धुकुलवृत्तान्ता—सुचिरात्
बहुदिनानां पश्चात् अधिगतः—प्राप्तः बन्धुकुलस्य—बान्धवानां वृत्तान्तः समा-
चारः यया तादृशी, उत्कण्ठिता—समुत्सुका ।

[फिर आह भरकर आंसुओं के साथ] हाय मित्र ! तुम भी मेरे कारण
अपने प्राण त्याग दोगे ?

[इसके बाद विदूषक प्रवेश करता है]

विदूषक—[राजा से] प्रिय मित्र का कल्याण हो ।

राजा—[देखकर हर्ष के साथ] भाग्य से प्रिय मित्र जीवित हैं !

विदूषक—मित्र ! देवी घोषणा कर रही हैं—मेरे पिता के नगर से
बन्दीगण आये हुए हैं । वे आर्यपुत्र के साथ मेरे दर्शन के लिए उत्सुक हैं ।
मैं भी बन्धुकुल का समाचार जानने के लिए बहुत दिनों से उत्कण्ठित हूँ ।

तद् यदि रोचते, तदा मया सह अभ्यन्तरस्थानमणिमण्डपे उपविश्य तेषां वन्दिजनानाम् अवकाशं ददातु आर्यपुत्रः । [भो वअस्स देई विण्णावेदि—मह तादस्स णअरादो एत्थ वंदिणो समाअदो । ते दाणि अज्जउत्तस्सहिदाए मह दस्सण सम्मुस्सुकाओ वहेति । अहं वि सुइणअहिगदबंधुउलवुत्तांत सुणिदुं उक्कंठिआ ह्मि । ता जइ रोअदि तह मए सह अब्भंदरत्थाणमणिमंडवेहि उवट्ठिदाणं ताणं वंदिजणाणं ओआसं पदिज्जेदुअज्जउत्तो त्ति ।]

राजा—[निशम्य सहर्षम्] सखे ! तथा दुरपनोदामर्ष^१ वशंवदाया अयमपि^२ मे महाप्रसादो देव्याः । तत्कथय कथं नाम बन्धनान्मुक्तो भवान् ?

विदूषकः—आत्मन एव^३ सुब्राह्मण्यस्य प्रसादेन । (आत्ताणो एव्व सुवम्हणस्स पंपआदेण ।

राजा—तथापि कथम् ?

विदूषकः—कथमिति कथं मन्त्रसिद्धौ ? [कहं त्ति । अले मंतसी हीणा ।]

अभ्यन्तरस्थानमणिमण्डपे—अन्तःपुरस्थितमणिखचितमण्डपे । अवकाशम्—अवसरम् । दुरपनोदामर्षवशंवदायाः—दुरपनोदस्य—निवारयितुमशक्यस्य अमर्षस्य—क्रोधस्य वशंवदायाः—अधीनायाः, महाप्रसादः—महान् अनुग्रहः । सुब्राह्मण्यस्य—सद्विप्रत्वस्य । स्फुटं—स्पष्टम् ।

इसलिए यदि उचित समझे तों मेरे अन्तःपुर के मणि-मण्डप में बैठकर आर्यपुत्र उन वन्दिजनों को दर्शन का अवसर दें ।

राजा—[सुनकर प्रसन्नता से] यह तो महारानी की महती कृपा है क्योंकि उनसे क्रोध का निवारण बड़ा कठिन हो गया था । अच्छा, यह बताओ की तुम बन्धनमुक्त कैसे हुए ।

विदूषक—अपने ही ब्राह्मणत्व के प्रभाव से ।

राजा—फिर भी कैसे ?

विदूषक—मंत्र की सिद्धि होने पर, कैसे क्या ?

१ दुरपनोदामार्गं मू० पा० २ इदमपि मू० पा० ३ ए मू० पा० ।

राजा—अलं परिहासेन स्फुटं कथय ।

विदूषकः—किमन्यत् ? बन्धुकुलजनागमहर्षेण तथा अनुचितति-
रस्कृतं त्वामेवाद्य आश्वासयितुम् । (किं अण्णं । बन्धुउलजणागम-
णहरिसेण तहा अणुइदं तुम्हं एब्ब अज्ज आसासटुं ।)

राजा—उचितमेवेदं तथाभिजात्यस्य देव्याः । कः कोऽत्र भोः ?

[प्रविश्य कञ्चुकी]

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देवः । [आणबेटु देवो]

राजा—कञ्चुकिन् ! निवेद्यताममात्यः—सत्वरमभ्यन्तरस्थानम-
णिमण्डपसज्जीकरणाय निषेधाय च सकलपुरुषाणाम् । आहूयतां च
माधविका ।

कञ्चुकी- यदाज्ञापयति देवः । (यद् आणबेदि देवो) [इति निष्क्रान्तः]

बन्धुकुलजनागमनहर्षेण—बान्धवजनानामागमनजन्याह्लादेन, अनुचितति-
रस्कृतम्—अनुचितप्रकारेण अपमानितम्, आश्वासयितुम्—सान्त्वयितुम् ।

आभिजात्यस्य-कुलीनतायाः ।

अमात्यः—मन्त्री, निवेद्यतां—कथ्यतां, सत्वरं—शीघ्रम्, अभ्यन्तर-
स्थानमणिमण्डपसज्जीकरणाय—अन्तःपुरवर्तिमणिमण्डपालङ्करणाय, सकलपु

राजा—मजाक मत करो, स्पष्ट बतओ ।

विदूषक—और क्या ? बन्धुजनों के आगमन से उत्पन्न हर्ष के कारण,
उस प्रकार अनुचित ढंग से अपमानित किये गये आप को ही आज आश्वासन
 देने के लिए ।

राजा—यह महारानी की कुलीनता के अनुरूप ही है । यहाँ कौन है जी !

[कञ्चुकी प्रवेश करता है]

कञ्चुकी—आज्ञा दें महाराज ।

राजा—कञ्चुकी ! मन्त्री से कहो अभ्यन्तरस्थानमणिमण्डप को तुरन्त सज-
वाएँ और अन्य सभी पुरुषों का वहाँ जाना रोक दें । और माधविका को
 बुलाओ ।

कञ्चुकी—महाराज की जो आज्ञा । [कहकर जाता है]

(प्रविश्य माधविका)

माधविका—[सप्रणामम्] जयतु भर्ता । (जेदु जेदु भट्टा ।)

राजा—माधविकेऽवश्यमिदानीं खलु देव्या निदेशेनाभ्यन्तरमणि-
मण्डपं प्रसाधयामः । तदाहूयतां तत्रैव देवी ।

माधविका—यदाज्ञापयति भर्ता । (जं आणवेदि भट्टा)

(इति निष्क्रान्ता)

राजा—सखे ! तद्दर्शय पन्थानं मणिमण्डपस्य ।

विदूषकः—एतु एतु प्रियवयस्यः । (एदु एदु पिअवअस्सो ।)

(इत्युभौ परिक्रामतः)

विदूषकः—पश्यतु पश्यतु प्रियवयस्यः, एष तेऽभ्यन्तरस्थानमणि-
मण्डपालङ्कृतः सौधः । (पेक्खदु पेक्खदु पिअवअस्सो । एसो तुह
अब्भंदरत्थाणमणिमंडवालंकिदो सोहो ।)

राजा—(विलोक्य सहर्षम्) अये कथमयम् :—

रूपाणां—समस्तजनानां, निषेधाय—निवारणाय, च । आहूयताम्—आकार्य-
ताम् । निदेशेन—आज्ञया, प्रसाधयामः—विभूषयामः । पन्थानं—मार्गम् ।
सौधः—प्रसादः ।

[माधविका प्रवेश करती है ।]

माधविका—(प्रणाम करके) महाराज की जय हो ।

राजा—माधविका ! देवी की आज्ञा से अभी मैं अभ्यन्तरमणिमण्डप में
चलूंगा । देवी को वहीं बुलाओ ।

माधविका—स्वामी जो आज्ञा दें ।

[कहकर चली जाती है]

राजा—मित्र ! मणिमण्डप का मार्ग बताओ ।

विदूषक—इधर से आएँ मित्र ! इधर से ।

(दोनों चलते हैं)

विदूषक—देखो, देखो प्रियमित्र ! यह है आपका सज्जित अन्तःपुर का
मणिमण्डप ।

राजा—(देखकर प्रसन्नता से) अरे ! कैसे यह—

दीप्तौऽनन्तमणिप्रभाभिरभितः पतालशङ्काकरो,
भास्वत्काञ्चनभृदञ्चितरुचिर्भूलोकतुल्याकृतिः ।
आसीनः सुमनश्चयेन सुरभिः स्वर्लोकजातोपम—
स्त्रै लोक्यानुकृतिं तनोति नितरामास्थानसौधो मम ॥४

विदूषकः—तत् त्वमिदानीम् एतमाक्रम्य अनुकुरु महेन्द्रत्वम् (ता
तुम दाणि आक्कम्मिअ अणुकुरेहि मंहिदत्तणं ।)
(इत्युभौ आरोहणं^१ नाटयतः)

मे—मम आस्थानसौधः—अन्तःपुर प्रासादः अभितः—समन्तात्, अनन्तमणि-
प्रभाभिः—असंख्यमणिकान्तिभिः, पातालशङ्काकरः—पातालभ्रमोत्पादकः
(पाताले मणिभूषिताः अनन्ता अनन्तादयो नागा निवसन्ति इति श्रूयते),
भास्वत्काञ्चनभृदञ्चितरुचिः—प्रकाशमानस्वर्णगिरेः इव अञ्चिता महनीया
रुचिः कान्तिः यस्य तादृशः (सन्), भूलोकतुल्याकृतिः—पृथ्वीलोकसम-
रूपवान्, सुमनश्चयेन—पुष्पराशिना, सुरभिः—सुगन्धिः, आसीनः—
वर्तमानः, मम आस्थानसौधः—मणिमण्डपप्रासादः, त्रै लोक्यानुकृतिं—
त्रिलोक्या अनुकरणं, नितरां—सुतरां, तनोति—विस्तारयति । अत्र
शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥४

आक्रम्य—आरुह्य, महेन्द्रत्वम्—इन्द्रपदवीम्, अनुकुरु—धारयेत्यर्थः ।

मेरा अन्तःपुर तो पूर्णतः त्रिलोक की समानता धारण कर रहा है—अनन्त
मणियों का प्रकाश चारों ओर छिटक रहा है जैसे पाताल लोक हो (अनन्त
मणियों में सर्प-मणि की कल्पना है), भूलोक के समान आकार वाला जैसे
सुमेरु पर्वत ही स्वर्ण प्रकाश के बहाने चमक रहा है । (स्वर्ण के असीम प्रकाश
में सुमेरु-गिरि की कल्पना है) और पुष्पराशि की सुगंध से प्रतीत होता है जैसे
स्वर्गिक वस्तुओं की सुगन्ध बिखर रही हो ॥४

विदूषक—तो तुम इस पर चढ़कर इन्द्र की समानता प्राप्त करो ।

(कहकर दोनों चढ़ने का नाट्य करते हैं ।)

विदूषकः—एतं समणिमण्डपस्तम्भमलं करोतु प्रियवयस्यः । (एतं समणीमंडवत्थंबं अलंकरेदु पिअवअस्सो ।)

राजा—[नाट्येनोपविश्य] सखे ! उपविश तावत् ।

[विदूषकः यथोचितमुपविशति]

[ततः प्रतिशति सपरिवारा देवी ।]

देवी—[राजानं प्रति] जयतु जयतु आर्यपुत्रः । (जेदु जेदु अज्जउत्तो ।)

राजा—प्रिये ! उपविश तावत् ।

देवी—[यथोचितमुपविश्य] आज्ञापयत्वार्यपुत्रः मम पितुर्नगर-
वन्दिनां समागमनाय । (आणवेदुं अज्जउत्तो मह पिदुणोणअरवदिणं
समागअणाणं ।)

राजा—कः कोऽत्र भो ?

[प्रविश्य कञ्चुकी]

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देवः । [आणवेदु देवो]

आरोहणम्—आक्रमणं, नाटयतः—अभिनयतः । नाट्येन—नाटकीयतापूर्वकम् ।

विदूषक—प्रियमित्र ! अब इस मणिस्तम्भ और मण्डप से युक्त महल को शोभित कीजिए ।

राजा—[बैठने का नाट्य करता है] बैठो मित्र !

(विदूषक उचित रीति से बैठता है)

[इसके बाद परिचारिकाओं-समेत महारानी प्रवेश करती हैं ।]

देवी—(राजा के प्रति) जय हो ! आर्यपुत्र की जय हो !

राजा—प्रिये ! बैठो ।

देवी—(उचित रीति से बैठकर) पितृनगर से आये हुए वन्दिजनों को आने के लिए आर्यपुत्र आज्ञा दें ।

राजा—कौन है यहाँ ?

(कञ्चुकी प्रवेश करके)

कञ्चुकी—महाराज आज्ञा दें ।

राजा—काञ्चुकिन्^१ ! त्वरितं प्रवेशय पाण्ड्यदेशागतौ वन्दिनौ ।
काञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः ।

[इति निष्क्रम्य वन्दिभ्यां सह प्रविशति^२]

वन्दिनौ—[राजानं प्रति दूरतः सप्रणामं करावुन्नमय्य] जयतु-
जयतु देवः । देव, ब्रह्मायुर्भव ।

मूर्द्धं व्याधूयमानध्वनदमरधुनीलोलकल्लोलजालो—
दूताम्भः क्षोददम्भात् प्रसभमभिनभः क्षिप्तनक्षत्रलक्षम्^३ ।

करो—हस्तौ, उन्नमय्य—उपरि कृत्वा । ब्रह्मायुः—ब्राह्मणः सदृशम् आयुः अथवा
ब्रह्मदिनपर्यन्तमाकल्पान्तमिति यावत् आयुः वयः यस्य तादृशः ।

मूर्द्धं व्याधूयमानध्वनदमरधुनीलोलकल्लोलजालोदूताम्भः क्षोद-
दम्भात्—मूर्धनि मस्तके व्याधूममाना शरीरसञ्चलनेन सञ्चाल्यमाना अतएव
ध्वनन्ती शब्दायमाना या अमरधुनी गङ्गा तस्याः लोलात् चञ्चलात् कल्लो-
लजालात् महातरङ्गसमूहात् उदूतानामुक्षिप्तानाम् अम्भः क्षोदानां जल—
विन्दूनां दम्भात्, छलात्, अभिनभः—नभसि, प्रसभं—हठात्, क्षिप्त-
नक्षत्रलक्षम्—क्षिप्तं विकीर्णं नक्षत्राणां ताराणां लक्षं समूहो यस्मिन् ता—
दृशम्, ऊर्ध्वन्यस्तांघ्रिदण्डभ्रमिभररभसोच्चन्नभस्वत्प्रवेशभ्रान्तब्रह्मा-

राजा—कंचुकी ! पाण्ड्यदेश से आये दोनों वन्दिजनों को शीघ्र बुलाओ ।

कंचुकी—महाराज की जो आज्ञा ।

(कहकर जाता है और फिर दोनों वन्दिजनों के साथ प्रवेश करता है)

दोनों बन्दी—(राजा के प्रति—दूर से ही प्रणाम सहित हाथों को उठाकर)
जय हो, देव की जय हो !! ब्रह्मा की आयु देव को प्राप्त हो ।

पहला—गंगा की चंचल तरंगमालाएँ जो सिर के ऊपर घूमती रहती है
और उनसे छिटकते हुए जल-कणों से मालूम पड़ता है, जैसे लाखों तारे
आकाश में फँके जा रहे हों, ऐसी शोभा से युक्त और ऊपर उठे हुए पैर के
घूमने से उत्पन्न प्रचण्ड वायु के चक्कर में जैसे ब्रह्माण्ड ही घूमने लगता है,

ऊर्ध्वं^१ न्यस्तांघ्रिदण्डभ्रमिभर^२ रभसोद्यन्नभस्वत्^३ प्रवेश-^४
 भ्रान्तब्रह्माण्डखण्डं प्रवितरतु शुभं^५ शाम्भवं ताण्डवं ते ॥५
 विश्वस्ताः कटकच्छन्ना मुक्ताहारविभूषणाः ।
 अरोषेऽपि सरोषेऽपि त्वयि देव ! रिपुस्त्रियः ॥६

अपरः

अलिकुललुहिलकलाले तुह कलवाले गता पलिभिन्ने
 कुलति पिअनुगपेसं निगपलपति पिम्पकेतु पाशुपाले ॥७
 (अरिकुलरुधिरकराले तव करवाले
 कुलस्त्री.....पाशुपाले ७)

ण्डखण्डम्—ऊर्ध्वं—न्यस्तः उत्तोलितः यः अङ्घ्रिदण्डः चरणदण्डः तस्य या
 भ्रमिः घूर्णनं तस्याः भरेण आतिशय्येन उत्पन्नो यो रभसः वेगः तेन उद्यन्
 उत्पद्यमानो यो नभस्वान् वायुः तस्य प्रवेशेन भ्रान्तं घूर्णितं ब्रह्माण्डखण्डं य—
 स्मिन् तादृशं, शाम्भवं—शम्भुसम्बन्धि, ताण्डवम्—उद्धतवृत्त्यं, ते—भव-
 तः, शुभं—मगङ्गलं प्रवितरतु—अर्पयतु । अत्र स्रग्धराच्छन्दः ॥५

देव !—महाराज !, त्वयि—भवति, अरोषेऽपि—अकुपितेऽपि, सरो-
 षेऽपि—ऋद्धेऽपि (सति) रिपुस्त्रियः—शत्रुनायकः, कटकच्छन्नाः—रुद्ध-
 णाढ्यताः, मुक्ताहारविभूषणाः—मुक्तामालालङ्कृताः (सत्यः) विश्व-
 स्ताः—विधवाः (भवन्ति) । अत्र अनुष्टुप्छन्दः ॥६

अरिकुलरुधिरकराले—अरिकुलानां शत्रुसमूहानां रुधिरेण रक्तेन
 कराले भयङ्करे, तव—करवाले—खड्गे.....॥७

ऐसी शोभा वाले शंकर का ताण्डव नृत्य तुम्हें मंगल प्रदान करे ॥५

देव ! आपके क्रोध और अक्रोध की ओर बिना ध्यान दिये भी स्वर्ण और
 मुक्ता के आभूषणों से युक्त शत्रुओं की स्त्रियाँ तुमसे विधवा हो गयी हैं ॥६

दूसरा—शत्रु-समूह के शोणित से भयंकर, आपकी तलवार पर.....॥७

१ उर्ध्वं मू० पा० । ५ भ्रमिभव मू० पा० । भास्वत् मू० पा० । ४ प्रवेशत्-
 मू० पा० । ५ शिवं मू० पा० ।

राज्यं मुञ्चति मरहट्टः । कोषं कोशलो न पृच्छति । आन्ध्रो^१
विशति गिरिरन्ध्रम् । अङ्गः अङ्गनमपि न पृच्छति । भङ्गः पतति
हाभङ्गः । वङ्गः सप्ताङ्गं न सज्जयति । पञ्चगौडः^२ पञ्चत्वं लभते ।
गुर्जरो न गर्जति । उत्तालतालकरवालः परिपन्थिशक्तहस्तात् स्खलति ।
अरिराजमत्तगर्जसिंहजयिन् ! पुण्यं भवतु । हयवरम् आरोहतु ।

राजा—वन्दिनौ ! कुशलं पाण्ड्येश्वरस्य ?

वन्दिनौ—देवस्य प्रसादेन कुशलमेव सप्तस्वङ्गेषु नः स्वामिनः ।
किन्त्वेतदेव दारुणं दुःखमधिगत्य सकलमेव सुखं दुःखमेव मन्यमानो
वर्तते नो भर्ता ।

मरहट्टः—मरहट्टनरेशः । कोशलः—कोशलपतिः । आन्ध्रः—आन्ध्रदेशा-
धिपतिः, गिरिरन्ध्रम्—गिरिगुहाम् । अङ्गः—अङ्गदेशाधिपतिः, अङ्गनमपि—
राज्यसीमानमपि । हाभङ्गः—हाभङ्गनरेशः । वङ्गः—वङ्गेश्वरः, सप्ताङ्गं—
राज्यस्य सप्ताङ्गानि—राजा, मन्त्री, मित्रं, कोशः, राष्ट्रं दुर्गं, सेना इत्या-
ख्यानि, न सज्जयति—न सज्जीकरोति । पञ्चत्वं—मृत्युम् । उत्तालतालकर-
वालः—भयानकखङ्गः, परिपन्थिशक्तहस्तात्—शत्रोः क्षमहस्तात्, स्खलति—
पतति । अरिराजमत्तगर्जसिंहजयिन्—हे महाशत्रु रूपमत्तगजस्यसिंहरूपेण विजेतः !
पुण्यं—कल्याणं, हयवरम्—अश्वश्रेष्ठम् । दारुणं—भीषणम्, अधिगत्य—प्राप्य ।

मरहट्टराज अपना राज्य त्याग रहे हैं । कोशलनरेश खजाने की चिन्ता
नहीं कर रहे हैं । आन्ध्रनरेश पर्वत की गुफा में प्रवेश कर रहे हैं । वंग नरेश
राज्यसीमा की इच्छा छोड़ रहे हैं । हावंग-नरेश पतित हो रहे हैं । वंगपति
अपनी सेना के सप्तांगों को नहीं सजा रहे हैं । पञ्चगौड़-नरेश मृत हो रहे हैं ।
गुर्जरपति गरज नहीं रहे हैं । शत्रु के शक्तिशाली हाथ से भयानक तलवार गिर
रही है । हे महाशत्रु रूपी गजराज को पछाड़ने वाले सिंह ! आपका कल्याण हो
और आप उत्तम अश्व पर आरोहण करें ।

राजा—वन्दिजन ! पाण्ड्येश्वर कुशल हैं ?

दोनों वन्दी—महाराज की कृपा से स्वामी सब भाँति कुशल हैं; किन्तु

देवी—अहो, किं नु मम तातस्य दारुणं दुःखम् ? (किं नु मम तादस्स दारुणं दुःखं)

वन्दिनी—यत्किल वनविहारावसरे देव्याः समानोदरप्रभा काचि-
त्कुमारिका केनचिदपहृत्य नीता ।

आभरणं भुवनानां कषणं निर्माणनैपुण्यस्य विधेः ।

मदनं युवनयनानां निवासभवनं सुलक्षणनां सा ॥८

देवी—[सास्त्रम्] भगिनि ! कुतः पुनर्वर्तसे ? (भगिणि, कुदो उणवट्टेदिर)

राजा—वन्दिन् ! तदानीमन्विष्यते नैव सा ?

वनविहारावसरे—वने विहरणकाले, समानोदरप्रभा—सहोदरा तुल्यकान्ति-
मती च, अपहृत्य नीता-अपहरणं कृत्वा अन्यत्र प्रापिता ।

सा—तव भगिनी, भुवनानां—चतुर्दंशलोकानाम् आभरणम्—आ-
भूषणं, विधेः—विधातुः, निर्माणनैपुण्यस्य—रचनाकौशलस्य, कषणं—
शाणः, युवनयनानां—युवकनेत्राणां, मदनम्—आनन्ददायिका, सुलक्षणा-
नाम—उत्तमगुणानां, निवासभवनम्—आवासस्थलम् (आसीत्) । अत्र
गीतिकाच्छन्दः । ८

भगिनि—हे स्वसः ! । तदानीं—तस्मिन् समये । प्रहिताः—प्रेषिताः,

यही दारुण दुःख पाकर समस्त सुखों को दुख की भाँति ही हमारे स्वामी मान
रहे हैं ।

देवी—अहो ! पिताजी के लिए कौनसा दारुण दुःख है ?

दोनों वन्दी—यही कि वन-विहार के समय देवी की सहोदरा और समान
कान्तिवाली कुमारी किसी के द्वारा हरण कर ली गयी ।

वह संसार के लिए भूषण, विधाता की रचनानिपुणता की कसौटी, युवकों
के नेत्रों को मत्त करने वाली और सुलक्षणों की खान है । ८

देवी—[आँसू के साथ] वहिन ! अब तुम कहाँ हो ?

राजा—वन्दिन् ! क्या वह ढूँढ़ी नहीं जा रहीं हैं ?

वन्दिनी—सर्वतः खलु तदन्वेषणाय प्रहिताश्चारद्विजवन्दिनो भर्त्ताः।
राजा—तदेतावन्तं कालम् अधिगतो नवाऽनन्तरो वृत्तान्त

एतस्याः।

वन्दिनी—अवधारयतु देवः। अनन्तरमान्धदेशप्रहितैः प्रतिनिवृत्या-
स्मत्स्वामिपुरतो विप्रवर्यैः कथितम्। एषा किल वनविहारक्रीडा-
वशेन^२ कुतोऽपि संहतिभ्रष्टा एकाकिनी केनचित्शवरेणाधिगत्यान्धदे-
शारण्यवासिने निजस्वामिने समर्पिता।

देवी—[ससंभ्रमम्] भगिनि ! त्वमपि विन्ध्यवासिन्या उप-
हारीभविष्यसि ?

चारद्विजवन्दिनः—चाराः गुप्तचराः द्विजाः ब्राह्मणाः वदिनः स्तुतिपाठकाः,
भर्त्ता—स्वामिना। अनन्तरः—पश्चात्कालीनः। अवधारयतु—शृणोतु, आन्ध्रदे-
शप्रहितैः—आन्ध्रदेशे प्रेषितैः, प्रतिनिवृत्य—परावृत्य, अस्मत्स्वामि-
पुरतः—अस्माकं स्वामिनःअग्रे विप्रवर्यैः—द्विजवरैः। वनविहारक्रीडावशेन-
वनविहरणक्रीडानिमग्नेन, संहतिभ्रष्टा—समूहात् पृथग्भूता, शवरेण—किरातेन, आ-
न्ध्रदेशारण्यवासिने—आन्ध्रदेशस्थवने निवासं कुर्वते। विन्ध्यवासिन्याः—विन्ध्या-
रण्यस्थिताया भगवत्याः, उपहारीभविष्यसि—बलिर्भविष्यसि। शवराधिपेन—

दोनों वन्दी—स्वामी ने सर्वत्र गुप्तचर, ब्राह्मण और वंदियों को उसको ढूँढ़ने के लिए भेज दिया है।

राजा—तो इतने समय में पता नहीं लगा कि उसका क्या हुआ ?

दोनों वन्दी—देव ! मुझे—आन्ध्रदेश को भेजे गये ब्राह्मणों ने लौटकर स्वामी को बताया है कि वह वन-विहार की क्रीडा में लीन हो अपने संहतियों से छूट कर अकेली हो गई और किसी शबर (जंगली मनुष्य) ने लेकर उसे अपने स्वामी को समर्पित कर दिया।

देवी—[व्याकुल होकर] बहिन ! क्या तुम भी विन्ध्यवासिनी (देवी) के लिए उपहार बन जाओगी ?

वन्दिनौ-ततः शवराधिपेन कृष्णपक्षचतुर्दशीपूजनीयायाः विन्ध्य-
वासिन्याः समुचितोऽयमुपहार इति सहर्षमात्मनो निवेशने स्थापिता ।

देवी-[निःश्वस्य सोद्वेगम्] भो भगिनि ! त्वमपि विन्ध्य-
वासिन्या उपहारीभविष्यसि ? (भहिणि तुमं वि विज्भवासिणीए उव-
हारी हुविस्सेदि)

[इति रोदिति]

राजा—वन्दिन् कथय ततस्ततः ?

वन्दी—अनन्तरं कृष्णपक्षचतुर्दश्यां भगवत्या विन्ध्यवासिन्याः पुर-
स्तादुपवेश्य उद्यमितनिशितकरवालैककरेण शबरस्वामिना इतरकरेण
केशेष्वाकृष्य कुररीव सकरुणं सौद्वेगमुच्चकै रुदन्ती 'कुमारिके !
स्मरेष्टदेवताम्' इतीयं भणिता ।

किरातपतिना, कृष्णपक्षचतुर्दशीपूजनीयायाः—कृष्णपक्षस्य चतुर्दश्यां त्रिथौ
पूजां कर्तुं योग्यायाः, उपहारः—नैवेद्यम्, निवेशने—गृहे, स्थापिता—रक्षिता ।
पुरस्तात्—अग्रे, उद्यमितनिशितकरवालैककरेण—उद्यमितः उत्तोलितः निशितः
तीक्ष्णः करवालः खड्गः एकस्मिन् करे येन तादृशेन, केशेष्वाकृष्य—कुमारिकायाः
केशान् गृहीत्वैति यावत्, कुररीव कुररीपक्षिणीव, उच्चकैः—तारस्वरेण,
रुदन्ती—क्रन्दन्ती—भणिता—कथिता ।

दोनौ वन्दी—उसके बाद शबर स्वामी ने उसे कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के
अवसर पर पूजनीया विन्ध्यवासिनी के लिए उपयुक्त उपहार के रूप में मानकर
हर्ष के साथ अपने घर में रख लिया ।

देवी—[आह ! भरकर उद्वेग के साथ] वहिनि ! तुम भी विन्ध्यवासिनी
के लिए उपहार हो जाओगी ?

[कहकर रोने लगती है]

राजा—वन्दी ! कहो, उसके बाद क्या हुआ ?

वन्दी—पश्चात् कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को शबर स्वामी ने एक हाथ से
उसके केशों को और दूसरे में नंगी तलवार लिए, उसको विन्ध्यवासिनी के
सामने उपस्थित किया। वह व्याकुल होकर जब कुररी पक्षी की तरह करुण-क्रन्दन
करने लगी तब उसने उससे कहा—'कुमारी ! अपने इष्टदेव का स्मरण कर' ।

देवी—[सोद्वेगं सास्रम्] हा भगिनि ! अवसानमपि गच्छसि ।
(हा भहिणि, ओसाणंपि गच्छेसि ।)

[इतिशिरस्ताडयन्^१ उच्चकैः रोदिति]

राजा—प्रिये ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि । पृच्छाम^२ स्तावदुपरितनवृत्तान्तम् ।

देवी—पृच्छत्वार्यपुत्रः । अहं पुनरात्मनोऽपि न प्रभवामि । (पुच्छेदु अय्यउत्तो । अहं उण अत्तओ वि ण पहवम्हि ।)

राजा—वन्दिन् ! कथय ततस्ततः ?

वन्दी—ततो यात्राप्रहितस्य तत्र भवतो देवस्य विक्रमाभरणाख्यस्य सेनापतेः केनचिद्विन्ध्यवासिनीदर्शनार्थं गतवता खड्गधारिणा अनुचरपूरुषेण समालोक्य तं दुरात्मानं शबरस्वामिनं देव्याः प्रत्युपायनीकृत्य समानीय सेनापतये निवेदिता । तेन च श्रीमतः साम्राज्याधिकृतस्य श्रीमदमात्यसुबुद्धेः सम्मुखं^३ प्रहितेयमिति कथितमस्मत्स्वामिपुरतो विप्रवर्यैः ।

अवसानमपि—समाप्तिं मृत्युमिति यावत् । उपरितनवृत्तान्तम्—अग्रिम-समाचारम् । आत्मनोऽपि न प्रभवामि—स्ववशे नास्मि । यात्राप्रहितस्य—यात्रायां प्रचलितस्य, प्रत्युपायनीकृत्य हत्वेति यावत्, निवेदिता—समर्पिता । साम्राज्याधिकृतस्य—राज्याधिकारिणः, प्रहिता—प्रेषिता । किं प्रतिपन्नम्—

देवी—[व्याकुल होकर अश्रुपूर्ण नयनों से] हाय बहिन ! तुम मर रही हो ।
[सिर पीटती हुई जोर-जोर से रोती है]

राजा—प्रिये ! धीरज रखो धीरज । इसके आगे का वृत्तान्त पूछता हूँ ।

देवी—पूछिए आर्यपुत्र । मैं वास्तव में अपने वश में नहीं हूँ ।

राजा—वन्दी ! आगे क्या हुआ ? बताओ ।

दोनों वन्दी—इसके बाद आप के सेनापति विक्रमाभरण के एक अनुचर ने जो हाथ में तलवार लेकर विन्ध्यवासिनी के दर्शनार्थ उधर ही गया हुआ था, उसे देखा और उस दुरात्मा शबर-स्वामी को मारकर राजकुमारी को ला सेनापति को दे दिया । उस सेनापति ने फिर आपके सुबुद्धि नामक मंत्री को लाकर समर्पित किया, ऐसा ब्राह्मणों ने हमारे स्वामी को बताया है ।

देवी—[निःश्वस्य सानन्दम्] वन्दिवर ! गृहाणेदं पारितोषिकम् ।
[इति वन्दिने आभरणानि दत्त्वा] तत् कथय एतं वृत्तान्तं श्रुत्वा किं
प्रतिपन्नं पित्ता । (वंदीअर, गेण्ह एदं पालितोसिअं । ता कहेहि ।
एदं बुत्तं तं सुणिअ किं पडिवण्णं पितृएण ।)

वन्दी^१—शृणोतु भर्तृदारिका^२ । अनन्तरं चैवं^३ निवेद्य प्रहिता वयं
श्रीमतश्चरणसन्निधि पाण्ड्येश्वरेण । एषा खलु सकलभूपालमौलिमणि-
रञ्जितचरणारविन्दस्य मे जामातुश्चित्ररथदेवस्यैवोचिता । तदमा-
त्यस्य गोचरेण सुविहितं विधिना । तदिदं द्विजनिवेदितं यदा च-
वसन्तलेखा अनुजानाति तदा मदनुमतमेव गृह्णातु पाणिमस्या देवः ।

किं कृतम् । भर्तृदारिका—राजकुमारी । सकलभूपालमौलिमणिरञ्जितचर-
णारविन्दस्य—सकलानां भूपालानां राज्ञां मौलिमणिभिः मुकुटमणिभिः रञ्जि-
तौ रक्तीकृतौ चरणारविन्दौ यस्य तादृशस्य । अमात्यस्य—मन्त्रिणः, गोचरेण—
विषयेण संरक्षणेनेति यावत्, विधिना—विधाया, सुविहितं—साधु कृतम् ।
वसन्तलेखा—चित्ररथदेवस्य पत्नी महाराज्ञी, अनुजानाति—अनुज्ञां ददाति
मदनुमतम्—मया आदिष्टम्, अस्याः पाणिं गृह्णातु—अनया विवाहं करोतु ।

देवी—[आनन्द की सांस लेकर] हे श्रेष्ठ वन्दी ! यह पुरस्कार ग्रहण
करो । [कहती हुई वन्दी को आभूषण देकर] बताओ कि पिताजी ने क्या
किया ?

वन्दी—सुनिए—राजकुमारी जी ! तब पाण्ड्येश्वर के द्वारा हम लोग आपके
चरणों में यह कहकर भेजे गये हैं कि यह कन्या हमारे जामाता चित्ररथदेव
के ही उपयुक्त है, जिसके चरण कमल समस्त राजाओं के मुकुट-मणियों से शोभित
रहते हैं तो मंत्री (सुबुद्धि) की देख-रेख में उपस्थित कर विधाता ने
ठीक ही किया । अब यदि ब्राह्मणों के इस निवेदन पर वसन्तलेखा अपनी अनुमति
दे तो मेरी आज्ञा से ही महाराज इससे विवाह कर लें ।

देवी—आर्यपुत्र ! तदिदानीम् अमात्यमेवाकारयित्वा^१ पृच्छतु^२ कुत एषा इति । (अय्यउत्त, ता दाणीं अमच्चं एव्व आकारिअ पुच्छदु । कुदो एसा त्ति ।)

राजा—कञ्चुकिन् ! आहू यताममात्यः ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः^३ ।

[इति निष्क्रम्य अमात्येन सह प्रविशति]

अमात्यः—[राजानमवलोक्य) अये ! कथमिह महाराजः ।

हरिरिव विबुधाभिनन्दितोऽसौ शिशिरमरीचिरिवाश्रयः कलानाम् ।
तपन इव परा सहप्रतापः शिव इव भूतिविभूषितो विभर्ति ॥६

आकारयित्वा—आह्वयित्वा ।

विबुधाभिनन्दितः—विबुधैः पण्डितैः (विष्णुपक्षे देवैः) अभिनन्दितः प्रशंसितः, हरिःइव-विष्णुः इव, कलानाम्—चतुःषष्टिकलानाम् (चन्द्रपक्षे षोडशकलानाम्) शिशिरमरीचिः इव—चन्द्रःइव, सहप्रतापः—प्रतापेन तेजसा सहित, तपन इव—सूर्यं इव, भूतिविभूषितः—भूत्या ऐ—श्वर्येण (शिवपक्षे भस्मना) विभूषितः अलङ्कृतः, शिव इव—शङ्कर इव असौ—राजा, परा—प्राधान्यं शोभां वा, विभर्ति धारयति ॥६

देवी—आर्यपुत्र ! मंत्री को बुलाकर पूछिए कि इस समय वह कुमारी कहाँ है ?

राजा—कञ्चुकी ! मंत्री को बुलाओ ।

कञ्चुकी—महाराज की जैसी आज्ञा ।

[ऐसा कहकर चला जाता है और पुनः मंत्री के साथ प्रवेश करता है]
मंत्री—[राजा को देखकर] अहो, महाराज यहाँ क्यों ?

ये तो विबुधों (विद्वानों) द्वारा अभिनन्दित विष्णु के समान, कलाओं (गुणों) के आश्रय शीतरश्मि चन्द्रमा के समान प्रताप (शौर्य—प्रताप) से युक्त सूर्य के समान तथा भूति (ऐश्वर्य) से विभूषित शिव के समान शोभा को धारण कर रहे हैं ॥६

१ अमात्य एवाकारयित्वा मू० पा० । २ पृच्छतु मू० पा० । ३ देव मू०

[दूरतः सप्रणामम्] जयतु जयतु देवः ।

राजा—सुबुद्धे ! अलमनेन अन्तरङ्गस्य भूतस्य भवतोऽपसरणेन । तदेहोहि । इत एवोपविश तावत् ।

अमात्यः—[सविनयमुपसृत्य यथोचितमुपविशति]

राजा—सुबुद्धे ! कथयतु कुत एषा कन्यका या खलु विक्रमाभरणेन ते प्रेषिता ?

अमात्यः—देव ! कथं नाम स्वामिनोऽपि सम्मुखे वितथालापः ! तदवधारयतु देवः ! इयं तु गुणाधिकारलक्षणैरनन्यरूपेत्याकलय्य तत्काले तु—

यस्तु भूमिपतिर्भूमौ पाणिमस्या ग्रहीष्यति^१ ।

लक्ष्मीः स्वयमुपागत्य वरमस्मै प्रदास्यति ॥

इत्यमानुषां^२ गिरमाकर्ष्यं स्वामिने देया^३ परिणायनीयेत्याकाङ्क्ष-

अन्तरङ्गभूतस्य—अतिनिकटवर्तिनः परमात्मीयस्येत्यर्थः, अपसरणेन—दूरोपवेशनेनेत्यर्थः । वितथालापः—असत्यभाषणम् । अवधारयतु—शृणोतु । गुणाधिकारलक्षणैः अनन्यरूपा—सर्वगुणसम्पन्ना सुलक्षणा अनुपमसुन्दरी च, आकलय्य—विचार्यं । अमानुषां 'गिरम्—आकाशवाणीम्, आकर्ष्यं—श्रुत्वा,

[दूर से प्रणाम सहित] देव की जय हो, जय हो ।

राजा—सुबुद्धि ! तुम हमारे परम अन्तरंग हो, इसलिए दूर जाकर बैठना ठीक नहीं । आओ, यहीं बैठो ।

मन्त्री—[नम्रतापूर्वक निकट आकर बैठता है]

राजा—सुबुद्धि ! बताओ, वह कन्या कहाँ है, जिसे विक्रमाभरण ने तुम्हारे पास भेजा था ।

मन्त्री—देव ! स्वामी से असत्य क्यों कहूँ ? सुनें देव ! यह अलौकिक, गुणों से युक्त अनुपम सुन्दरी है—ऐसा सोचकर और उसी समय—

पृथ्वी पर का जो भी राजा इसका पाणिग्रहण करेगा उसके लिए लक्ष्मी स्वयं आकर वर प्रदान करेंगी ।

—यह आकाशवाणी सुनकर स्वामी को दे दूँ और उनसे विवाह करा दूँ ।

१ ग्रहीष्यति मू० पा० । २ प्रदास्यतीत्यमानुषा मू० पा० । ३ देयं मू० पा० ।

माणेन^१ देवीप्रकोपभीरुणा च स्वयमशक्नुवता^२ च मया मम वंश-
जेयं सखीपदे स्थापनीयेति देव्याः समर्पिता, तथा चान्तःपुरचारिणी-
मिमामवलोक्य स्वयमेव परिणेष्यति महाराज इति ।

[राजा देव्याः मुखमवलोकयति]

देवी—आर्यपुत्र ! या किल एतेन समर्पिता सैवैषा । पृच्छ^३
तावत् वन्दिनः किं नामधेया सा मे भगिनीति । (अय्यउत्त, जा किर
एदेण समप्पिदा सा एव्व एसेति पुच्छ दाव वंदिणं किं णामधेआ एसा
मह भहिणि त्ति ।)

राजा—वन्दिन् ! किं नामधेया सा पाण्ड्येश्वरस्य दुहिता ?

वन्दी—देव ! चन्द्रकलेति ।

राजा—[निशम्य सानन्दं स्वगतम्] मम प्रियतमा चन्द्रकलैव ।
[विचिन्त्य] सत्यमेतत् ।

परिणायनीया—विवाहयितव्या, देवीप्रकोपभीरुणा—देव्याः महाराज्ञ्याः प्रको-
पात् क्रोधात् भीरुणा विभ्यता, वंशजा—कुलोत्पन्ना, देव्याः समर्पिता—देव्यै
दत्ता । अत्र सम्बन्धमात्रविवक्षया षष्ठी । अन्तःपुरचारिणीम्—अन्तःपुरे इतस्ततो
गच्छन्तीम्, परिणेष्यति—विवाहं करिष्यति ।

इस इच्छा से, देवी के भय से भीरु, स्वयं को असमर्थ जानकर मेरे वंश की
है कहकर सखी रूप में प्रतिष्ठित करके रखने के लिए देवी को साँप दिया,
जिससे अन्तःपुर में रहते हुए इसे देखकर महाराज स्वयं ही परिणय कर लेंगे ।

[राजा देवी का मुख देखता है]

देवी—आर्यपुत्र ! जो इन्होंने समर्पित की थी, वही यह कन्या है । वन्दी
से पूछें कि मेरी वहिन का क्या नाम है ।

राजा—वन्दी ! पाण्ड्येश्वर की उस पुत्री का क्या नाम है ?

वन्दी—महाराज चन्द्रकला (नाम है) ।

राजा—[सुनकर आनन्द के साथ अपने मन में] मेरी प्रियतमा ही
चन्द्रकला है [सोचकर] यह सत्य है कि—

१ माणे मू० पा० । २ स्वयमशक्नुवानेन मू० पा० । ३ पृच्छ मू० पा० ।

कनकं मणिगणखचितं घनसारो वासितः कुसुमैः ।

द्राक्षामृतेन सिक्ता चन्द्रकलायाः कुले जनिर्महति ॥१०

देवी—[निशम्य स्वगतम्] अहो किं खलु भणिष्यति मे तथा निर्घृणानि आचरितानि श्रुत्वा मातापितरौ । [प्रकाशम्] आर्य-पुत्र ! तदिदानीम् एतयोः पुरो दर्शयित्वा ज्ञातव्यं या मम अमात्येन समर्पिता एषा सा नवेति । (अहो, किं क्व भणिस्सदि मह तहा णिग्घणासि आअरिदाई सुणिय जणआ । अय्यउत्त, ता दाणि एदयो पुरो दंसिअ जाणव्वं जा मह अमच्चेण समप्पिदा एसा ण वेत्ति ।)

राजा—यद्रोचते भवत्यै ।

कनकं—सुवर्णं, मणिगणखचितं—मणिगणैः रत्नसमूहैः खचितं जटितं (सत् अधिकं शोभते), घनसारः—कर्पूरः, कुसुमैः—पुष्पैः, वासितः—सुगन्धितः (सन् अधिकं शोभते), द्राक्षा—मृद्धीका, अमृतेन—सुधया सिक्ता—क्षरिता (सती अधिकं शोभते), चन्द्रकलायाः जनिः—जन्म, महति कुले—उच्चवंशे (अधिकं शोभते) । १०

निशम्य—श्रुत्वा । भविष्यति—कथयिष्यति । निर्घृणानि—निर्दयानि, आचरितानि—आचरणानि । एतयोः—वन्दिनोः, पुरः—अग्रे । यद्रोचते भवत्यै—भवती यथा प्रसीदतीत्यर्थः अत्र 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति सूत्रेण चतुर्थी ।

जैसे सोना मणियों से जड़ा जाने पर, कर्पूर पुष्पों से सुवासित किया जाने पर और द्राक्षा (अंगूर) अमृत से सिक्त होने पर अधिक शोभित होती है उसी तरह चन्द्रकला उच्च कुल में जन्म पाकर अधिक शोभित हुई । १०

देवी—[सुनकर मन में] हाय ! मेरे निर्दयतापूर्ण कार्यों को सुनकर माता-पिता क्या कहेंगे ? [प्रकट] आर्यपुत्र ? तो अब इन दोनों के सामने उसे उपस्थित करके जान लेना चाहिए कि मंत्री द्वारा समर्पित की गयी युवती यही है अथवा नहीं ।

राजा—जो आपको रुचे ।

देवी—[जनान्तिकम्] सखि रतिकले ! तदिदानीं त्वं त्वरितं गत्वा बन्धनान्मोचयित्वा सज्जीकृत्वा सह सुनन्दनया अत्र आनय चन्द्रकलाम् । (हला, रदिअले, ता दाणिं तुमं तुवरिदं गदुअ बधणा-दोमुक्किय सज्जिअ सह सुणंदणाए एत्थ आणहि चंदअलां ।)

रतिकला—यदाज्ञापयति प्रियसखी । (जं आणवेदि पिअसही ।)

[इति निष्क्रम्य समलङ्कृतां सुनन्दनाद्वितीयां चन्द्रकलामादाय प्रविशति]

राजा—[विलोक्य सानन्दं सस्पृहं स्वगतम्]

पञ्चबाणविजयाधिदेवता लोकलोचनचकोरचन्द्रिका ।

सृष्टिरदभुतकरीयमीदृशी निर्मिता कथमिव प्रजासृजा ॥११

सज्जीकृत्वा—विभूष्य । सुनन्दनाद्वितीया—सह सुनन्दनयेत्यर्थः ।

पञ्चबाणविजयाधिदेवता—कामदेवविजेत्री देवी इव, लोकलोचनचकोरचन्द्रिका—लोकानां जनानां लोचनानि नेत्राणि एव चकोराः चकोरपक्षिणः तेषां कृते चन्द्रिका ज्योत्स्ना (इव), इयं—चन्द्रकला, ईदृशी, अदभुतकरी—आश्चर्यकरी, सृष्टिः—रचना, प्रजासृजा—विधात्रा, कथमिव, निर्मिता—रचिता । अत्र रथोद्धताच्छन्दः १११

देवी—[कान में] सखी रतिकला ! तुम शीघ्र जाओ और बन्धन से मुक्त करके सजाकर सुनन्दना के साथ चन्द्रकला को ले आओ ।

रतिकला—प्रियसखी की जैसी आज्ञा ।

[कहकर चली जाती है, पुनः सज्जित चन्द्रकला को सुनन्दना के साथ लेकर प्रवेश करती है]

राजा—[देखकर आनन्दित हो उत्सुकता पूर्वक मन में]

इस युवती को ब्रह्मा ने किस प्रकार रचा—यह तो कामदेव की विजय की अधिष्ठात्री देवी-सी, लोगों के नेत्र-चकोर के लिए चन्द्रमा की भाँति और धरती की अदभुत रचना-सी है १११

वन्दिनौ [विलोक्य सानन्दं सास्त्रम्] सान्तः पुरस्थपाण्ड्येश्वरस्य भाग्योदयेन समागतासि नौ नयनगोचरम् ।

चन्द्रकला—[विलोक्य वाष्पमुत्सृजति]

देवी—[उत्थाय निविडं परिष्वज्य] समाश्वसिहि भगिनि ! समाश्वसिहि । अतिनिघृणया मया अकारणं परिपीडितासि । (समास्ससिहि भगिणि ! समास्ससिहि । अदिणिग्घिणाए अकालण मये पलिपीडिदस्सि ।)

[इत्युभे वाष्पमुत्सृजतः]

देवी—[स्वगतम्] अलमिदानीं मम पुनरपि तथा कठोरेण व्यवसितेन । स्वयमेव मया आर्यपुत्राय समर्पितव्या एषा । एवं खलु आत्मनो महत्त्वसम्पादनं मातापितोरपि काङ्क्षितसाधनम्, तथा कदर्थिताया भगिन्या आवासनम्, भर्तुर्जीवितसंशयात्परिरक्षणं, परम-

सान्तःपुरस्य—अन्तःपुरनिवासिनीसहितस्य, नयनगोरचरम्—दृष्टिपथम् । वाष्पमुत्सृजति—रोदिति । निविडं—गाढम्, परिष्वज्य—आलिङ्ग्य । अतिनिघृणया—अतिनिर्दयया, परिपीडितासि—क्लेशितासि । व्यवसितेन—कार्येण । महत्त्वसम्पादनं—गौरववर्धनं, काङ्क्षितसाधनम्—इच्छापूर्तिः । कद—थितायाः—परिपीडितायाः, आशवासनं—सान्त्वनम्, जीवितसंशयात्—

दोनो वन्दी [देखकर आनन्दाश्रु सहित] अन्तःपुरवासियों तथा पाण्ड्येश्वर के भाग्य से तुम हम दोनों को दृष्टिगत हुई ।

चन्द्रकला—[देखकर आँसू बहाती है]

देवी—[उठकर उसका भलीभाँति आलिंगन करके] धीरज रखो बहिन ! धीरज रखो । अत्यन्त निर्दया मैंने अकारण तुम्हें पीडित किया ।

[कहकर दोनों आँसू बहाती हैं]

देवी—[मन में] अब मुझे पुनः वैसा कठोर व्यवहार न करके स्वयं ही इसे आर्यपुत्र को समर्पित कर देना चाहिए । इससे मेरा महत्त्व बढ़ेगा और माता-पिता की इच्छा पूर्ण होगी । इस प्रकार पीडित की गई बहिन को सान्त्वना मिलेगी, स्वामी के प्राणों की रक्षा होगी

लक्ष्मीसम्पादनं च भवति^१ । [इति चन्द्रकलां करे गृहीत्वा प्रकाशम्] आर्यपुत्र ! श्वशुरयोर्ममापि अनुमत्या करे इदानीं गृहाण एनाम् । (अलं दार्णि मह पुणोव्वि तथा कठोरेण वअसिदेण ता सुअं एव्व मए अय्यपुत्तस्स समप्पिदब्बा एसा । एव्वं क्खु अत्तणो महत्तणसंवादणं मादापिदराणं कंक्खिदसाणं ताए कदत्थिदाए भगिणिए आसासणं भत्तुणो जीइदसंसआदो पलिरक्खणं परमलच्छी संआदणं अ होन्ति । अय्यउत्त, मादापिदरां मह पि अणुमदीये करे दार्णि गेण्ह एदां ।]

[इति राज्ञे समर्पयति]

राजा—[सहर्षम्] अहो महाप्रसादो देव्याः । [इति चन्द्रकलां करे गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति]

[नेपथ्ये शङ्खध्वनिः, सर्वतो दुन्दुभिःशब्दः]

वन्दिनौ—जयतु जयतु देवः । दिष्ट्या चन्द्रकलापाणिग्रहणेन सर्वथाऽनुगृहीतः पाण्ड्येश्वरो देवेन ।

राजा [सर्वतो विभाव्य साश्चर्यम्] अये ! कथमिदानीम्

प्राणसन्देहात्, परमलक्ष्मीसम्पादनम्—महालक्ष्मीप्राप्तिः ! अनुमत्या—अनुरोधेन, एनां—चन्द्रकलां गृहाण—स्वीकुरु । महाप्रसादः—महाननुग्रहः ।

और महालक्ष्मी प्राप्त होगी । [चन्द्रकला को हाथ से पकड़कर प्रकट रूप में] आर्यपुत्र ! आप अपने सास-ससुर तथा मेरी अनुमति से इसको स्वीकार कीजिए ।

[कहकर राजा को समर्पित करती है]

राजा—[हर्ष के साथ] अहा ! देवी की बड़ी कृपा है [कहता हुआ चन्द्रकला को हाथ से पकड़कर स्पर्श करने का नाट्य करता है]

[नेपथ्य में शङ्ख-ध्वनि होती है और चारों ओर तगाड़े का शब्द सुनायी पड़ता है]

दोनों वन्दी—जय हो, महाराज की जय हो ! भाग्य से आपने चन्द्रकला का पाणिग्रहण करके पाण्ड्येश्वर को अनुगृहीत कर दिया ।

राजा—[सब ओर आश्चर्यपूर्वक देखकर] अरे ! इस समय कैसे—

दृश्यन्ते द्युतयोऽपि विद्युत् इव श्रूयन्त एतानि च,
 भ्राम्यद्भृङ्गरुतानि कङ्कणभ्रणत्कारेण मिश्राण्यहो ।
 अभ्येति द्विपगण्डमण्डलगलदानाम्बुकल्लोलिनी—

गन्धेन द्विगुणीकृतः परिमलः पाथोरुहाणामपि ॥१२

अमात्यः—देवदेव ! अहमेवं मन्ये इदानीं खलु समदकरिकुलक-
 लितकनककलशमुखविगलदविरलपीयूषधाराभिरासिच्यमाना कर-

द्युतयोऽपि—प्रकाशा अपि, विद्युत् इव—तडित इव, दृश्यन्ते अवलो-
 क्यन्ते, एतानि, कङ्कणभ्रणत्कारेण—कङ्कणशब्देन, मिश्राणि मिलितानि-
 भ्राम्यद्भृङ्गरुतानि—भ्राम्यतां सञ्चरतां भृङ्गाणां भ्रमराणां रुतानि शब्दाः,
 अहो—आश्चर्यं, श्रूयन्ते—आकर्ष्यन्ते, द्विपगण्डमण्डलगलदानाम्बुक-
 ल्लोलिनीगन्धेन—द्विपानां गजानां गण्डमण्डलात् गण्डस्थलात् गलतां क्षरतां
 दानाम्बूनां मदानां कल्लोलिन्याः नद्याः गन्धेन, द्विगुणीकृतः पाथोरुहाणा-
 मपि—कमलानामपि, परिमलः—सुगन्धः अभ्येति—संवतः प्रसरति ।
 अत्र शादूलविक्रीडितं छन्दः ॥१२

देवदेव—राजाधिपते ! समदकरिकुलकलितकनककलशमुखविगलदविरल-
 पीयूषधाराभिः—समदैः मदमत्तैः करिकुलैः हस्तिद्वन्दैः कलितानां धारितानां
 कनककलशानां स्वर्णघटानां मुखैः विगलन्तीभिः क्षरन्तीभिः अविरलाभिः
 सान्द्राभिः पीयूषधाराभिः अमृतप्रवाहैः आसिच्यमाना—क्लिद्यमाना, करक-

प्रकाश भी विजली की तरह दिखाई दे रहा है, अहो ! यह कंकणों की
 झनकार से मिश्रित होकर विचरणशील भौरों का गुंजन सुनाई पड़ रहा है,
 (फिर) हाथियों के गण्डस्थल से बहते हुए मद की नदियों से द्विगुणित होकर
 कमल की सुगंध बिखर रही हैं ॥१२

मन्त्री—देवदेव (सम्राट्) ! मुझको प्रतीत होता है कि त्रिलोक-
 साम्राज्य की लक्ष्मी स्वयं, सुलक्षणों से युक्त चन्द्रकला का पाणिग्रहण करने के
 कारण आपके पास हर्षित होकर, मदयुक्त हाथियों द्वारा पकड़े गये सुन्दर
 स्वर्णकलश के, मुख से सतत प्रवाहित सुधाधारा से अभिषिक्त होती, सुन्दर

कलितकमलपरिमलमिलदलिपटलभङ्कारमुखरिताशान्तरा प्रणयप्रण-
तनिखिलसुरासुरमुकुटतटघटितमणिगणकिरणकिर्मीरितचरणनखरा भग-
वन्मुकुन्दहृदयानन्दसन्दोहकन्दलीकन्दभूता दलितकमलदललोचना
अपाङ्गतरङ्गविश्राणनाय १ त्रिभुवनसाम्राज्यलक्ष्मीः साक्षादभ्युपैति
भवन्तमस्याः सुलक्षणायाः परिग्रहानन्दवशंवदेति ।

लितकमलपरिमलमिलदलिपटलभङ्कारमुखरिताशान्तरा—करे हस्ते कलितस्य
घृतस्य कमलस्य परिमलेन सुगन्धेन मिलतः संगतस्य अलिपटलस्य भ्रमरसमूह-
स्य भङ्कारेण गुञ्जनेन मुखरितं निनादितम् आशान्तरं दिशामध्यं यया
तादृशी, प्रणयप्रणतनिखिलसुरासुरमुकुटतटघटितमणिगणकिरणकिर्मीरितचरण-
नखरा—प्रणयेन प्रेम्णा प्रणतानां नतावां निखिलसुरासुराणां समस्तदेवदान-
वानां मुकुटतटेषु किरीटप्रान्तेषु घटितानां जटितानां मणिगणानां रत्नसमूहानां
किरणैः कान्तिभिः, किर्मीरितः कर्बुरितः चरणनखरः पादनखः यस्याः
तादृशी, भगवन्मुकुन्दहृदयानन्दसन्दोहकन्दलीकन्दभूता—भगवतः मुकु-
न्दस्य विष्णोः हृदये चित्ते ये आनन्दाः प्रमोदाः तेषां सन्दोहः समूह एव
कन्दली क्षुपविशेषः तस्या कन्दभूता मूलभूता, दलितकमलदललोचना—दलित-
कमलदले विकसितकमलपत्रे इव लोचने यस्याः तादृशी, साक्षात्, त्रिभु-
वनसाम्राज्यलक्ष्मीः—त्रिलोकीसाम्राज्यश्रीः, अस्याः, सुलक्षणायाः—शुभलक्षण-
सम्पन्नायाः, परिग्रहानन्दवशंवदा विवाहजन्यानन्दाधीना (भूत्वा) अपाङ्गतरङ्ग
विश्राणनाय—कृपाकटाक्षदानाय, भवन्तं—त्वाम्, अभ्युपैति—आगच्छति ।

हाथों में धारण किए हुए कमल की सुगंधि से आकृष्ट भ्रमरदल के गुंजार से
दिशाओं को मुखरित करती, सकल सुरासुर के मुकुटबचित मणियों के
प्रकाश से शोभित चरणों वाली, जो भगवान् विष्णु के हृदय में संनिहित आनन्द
रूपी वृक्ष की मधुरता के समान हैं, हम सब को आनन्द वितरित करने
के लिए चली आ रही हैं ।

[सर्वे निशम्य सत्वरमुत्तिष्ठन्ति । ततः प्रविशति परितश्चामरै-
रुपवीज्यमाना यथानिर्दिष्टा लक्ष्मीः]

राजा—[विलोक्य सानन्दम्] भगवति ! कृतार्थोऽस्मि ।

[इति^१ पादयोः पतति]

लक्ष्मीः—उत्तिष्ठ वत्स ! चन्द्रकलापरिग्रहेण प्रसन्नाहमिह ते
साक्षात्कारं तदभिमतमात्मनो वरं वृणीष्व ।

राजा—[उत्थाय साञ्जलिबद्धम् ।]

साक्षात्कारफलं तव प्रणिगदेत्को वा मुकुन्दप्रिये !

मातर्येषु कृपामयो निपततिं क्रीडाकटाक्षोऽपि ते ।

परितः—सर्वतः, चामरैः—वालव्यजनैः, उपवीज्यमाना—विधूयमाना,
यथानिर्दिष्टा—उपरिवर्णिता । कृतार्थः—कृतकृत्यः । साक्षात्कारम्—दर्शनम्,
अभिमतम्—अभीष्टम् ।

मुकुन्दप्रिये—हरिपत्नि ! तव—भवत्याः, साक्षात्कारफलं—दर्शन-
फलं, को वा—जनः, प्रणिगदेत्—कथयेत् ? मातः—जननि !, येषु—
जनेषु ते, कृपामयः—क्रीडाकटाक्षोऽपि—क्रीडापाङ्गवीक्षणमपि ।
निपतति, तेषां, भवनद्वाराङ्गणक्षोणयः—गृहद्वाराङ्गणभुवः, क्षणेन—
तत्कालम्, उन्मददिड्-मतङ्गजघटाघण्टारवाडम्बरैः—उन्मदानां मत्तानां

[सभी सुनकर शीघ्र उठ जाते हैं । तव ऊपर वर्णित रूप में लक्ष्मी,
जिन पर चारों ओर से चेंबर डुलाया जा रहा हो, प्रवेश करती हैं]

राजा—[देखकर प्रसन्नता से] भगवती कृतार्थं हूँ ।

[कहकर चरणों पर गिरता है]

लक्ष्मी—उठो वत्स ! उठो । चन्द्रकला के पाणिग्रहण से मैं प्रसन्न हूँ और
तुमको दर्शन दे रही हूँ । अभीष्ट वर माँगो ।

राजा—[उठकर हाथों को जोड़े हुए]

हे विष्णुपत्नी ! तुम्हारे साक्षात्कार के फल-लाभ को कौन कह सकता

तेषामुन्मददिङ्मतङ्गजघटाघण्टारवाडम्बरै—
 जायन्ते मुखरा क्षणेन भवनद्वाराङ्गणक्षोणयः ॥१३
 तथापि किञ्चित् ब्रवीमि—

आचन्द्रतारकं मात-
 मां विमुञ्च कुलं मम ।
 भूयादविरतं भक्ति-
 स्त्वयि मेऽव्यभिचारिणी ॥१४

लक्ष्मीः—एवमस्तु । किं ते भूयः प्रियमुपहरामि ?
 राजा—भगवति !

दिङ्मतङ्गजानां दिग्गजानां घटानां समूहानां घण्टारवाणां घण्टाशब्दानाम्
 आडम्बरैः आटपैः, मुखराः—शब्दायमानाः, जायन्ते—भवन्ति । अत्र शाद्वल-
 विक्रीडितं छन्दः ११३

मातः—जननि !, मम—मे, कुलं—वंशम्, आचन्द्रतारकं—
 यावच्चन्द्रो नक्षत्राणि च व्योम्नि तिष्ठेयुस्तावत्कालपर्यन्तमित्यर्थः, मा,—
 नहि, विमुञ्च-त्यज । त्वयि—भवत्यां, मे—मम, अव्यभिचारिणी—
 ऐकान्तिकी, भक्तिः—श्रद्धाभावः, अविरतं—निरंतरं, भूयात्—भ-
 वतु । अत्र अनुष्टुप्छन्दः ११४

हैं ? माता ! तुम्हारी कृपामयी दृष्टि जिनके ऊपर पड़ जाती हैं, उनके
 भवनों के द्वार और आँगन की भूमि तत्काल मदमत्त दिग्गजों के घंटा-
 शब्दों के विस्तार से मुखरित हो उठती हैं ॥१३

तो भी कुछ निवेदन कर रहा हूँ—

माता ! जब तक चन्द्रमा और तारे (आकाश में) रहें तब तक
 तुम मेरे कुल को न छोड़ना और तुममें मेरी अविचल भक्ति सदा बनी
 रहे ॥१४

लक्ष्मी—ऐसा ही हो । और कौन सा तुम्हारा प्रिय कार्य करूँ ?

राजा—भगवती !

देवीयमेवं गदिता प्रसादमासादिता प्राणसमा प्रिया मे ।
त्वमिन्दिरे ! मन्दिरसंश्रितासि प्रियं पुनर्मे किमतः परं स्यात् ॥१५

तथापीदमस्तु

राजानः सुतनिर्विशेषमखिलाः पश्यन्तु नित्यं प्रजाः,
जीयासुः सदसद्विवेकपटवः सन्तो गुणग्राहिणः ।
शस्यस्वर्णसमृद्धयः समधिकाः सन्तु स्थिरामण्डले,
भूयादव्यभिचारिणी त्रिजगतो भक्तिश्च नारायणे ॥१६

इयं, देवी—महाराज्ञी, एवम्—इत्थं, प्रसादं—प्रसन्नतां, गदिता—गता
मे, प्राणसमा—प्राणतुल्या, प्रिया—कान्ता, आसादिता—प्राप्ता, त्वम्,
मन्दिरसंश्रितासि—मन्दिरे भवने संश्रितासि विराजमानासि, इन्दिरे—लक्ष्मि,
अतः परम् अस्मात् अधिकं, पुनः—भूयः मे किं प्रियम्—अभीष्टं
स्यात्—भवेत् ? अत्र उपजातिच्छन्दः ॥१५

अखिलाः—समस्ताः, राजानः—भूपाः, नित्यं—सर्वदैव, प्रजाः—
जनान्, सुतनिर्विशेषं पश्यन्तु—पुत्रवत् पालयन्तिवत्यर्थः । सदसद्विवेकप
टवः—सदसद्विवेके पटवः समर्था गुणग्राहिणश्च, सन्तः (जनाः) जीयासुः—
सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ताम् । स्थिरामण्डले—भूमण्डले, समधिकाः—अतिशयाः
शस्यस्वर्णसमृद्धयः—शस्यानां धान्यानां स्वर्णानां धनानाञ्च समृद्धयः वृद्धयः,
सन्तु—भवन्तु । त्रिजगतः—त्रिजगद्वासिनो जनस्य, नारायणे—विष्णो-अव्य
भिचारिणी—चिरस्थायिनी, भक्तिश्च, भूयात् । अत्र शाहूँलविक्रीडितं
छन्दः ॥१६

ये महारानी प्रसन्न हो गईं, प्राणों के समान प्रिया मुझे मिल गयी और
आप स्वयं मेरे महल में विराजमान हैं । इन्दिरे ! उससे बढ़कर और कौनसा
मेरा प्रिय हो सकता है ॥१५

तो भी यह हो—

सभी राजा पुत्रवत् प्रजाओं का नित्य पालन करें । प्रजायें सत् और असत्
का विवेक करने में पटु तथा गुणग्राही होते हुए उत्कर्ष के साथ रहें, भूमण्डल
में धन-धान्य की प्रचुर समृद्धि हो और तीनों लोक के (निवासियों) की
नारायण में चिरस्थायिनी भक्ति हो ॥१६ Collection. Digitized by eGangotri

अत्र प्रसादगुणधामनि नीतिरम्ये,
 माधुर्यशालिनि निरस्तसमस्तदोषे ।
 श्रीविश्वनाथकविवागमृतप्रवाहे
 मज्जन्तु मत्सरमपास्य चिरस्य धीराः ॥१७
 [इति निष्क्रान्ताः सर्वे]
 समाप्तश्चायं ग्रन्थः

अत्र—अस्मिन् प्रसादगुणधामनि—प्रसादगुणस्य निवासभूत इव नीति-
 रम्ये—नीत्या नयेन रम्ये विभूषिते, माधुर्यशालिनि—मधुरिमयुक्ते,
 निरस्तसमस्तदोषे—निरस्ताः अपगताः समस्ताः सकला दोषाः त्रुट्यो
 यस्मात् यत्र वा तादृशे, श्रीविश्वनाथकविवागमृतप्रवाहे—श्रीविश्वनाथ-
 कवेः वचनामृतधारायां, धीराः—सज्जनाः, मत्सरम्—अन्यशुभद्वेषम्,
 अपास्य—विहाय, चिरस्य—चिराय, मज्जन्तु—स्नान्तु । अत्र वसन्ततिलकं
 छन्दः । १७

प्रसादगुण से पूर्ण, नीति-विभूषित, माधुर्य-सम्पन्न तथा समस्त दोषों
 से रहित, श्री विश्वनाथ कवि की इस वाणी रूपी अमृतधारा में, धीर पुरुष
 मत्सर (डाह) का त्यागकर चिरकाल तक स्नान करें । १७

[समी चले जाते हैं]

यह ग्रन्थ समाप्त

* * *



लताकुञ्जं गुञ्जन्मदवदलिपुञ्जं चपलयन्,
 समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन् ।
 मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्,
 रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि ॥

● संस्कृत साहित्य का सहृदय सुधी-समाज उद्युक्त श्लोक से पूर्णरूपेण परिचित है, इसे वह पढ़ता, गुणगुनाता और गाता है। पर कव, किस प्रसंग में आचार्य विश्वनाथ ने इसकी रचना की इस गुत्थी को भूलझाने के लिए आज तक अप्रकाशित इस नाटिका को पढ़ें।

● आचार्य विश्वनाथ विद्वत्समाज में आलंकारिक तथा नाट्यशास्त्रीय नियमों के प्रणेता विख्यात हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'साहित्यदपण' में महाकवि कालिदास जैसे सिद्ध-सारस्वत कवियों की भी पगड़ी उछाली है। पर इन नियमों का स्वयं उन्होंने कहाँ तक पालन किया है—इसका समाधान इस कृति के अध्ययन, मनन और अनुशीलन से करें।

● साहित्यिक समाज में असफल कवि समाज समालोचक होता है, इस उक्ति की कसौटी पर आचार्य विश्वनाथ की इस कृति को समीक्षकगण पढ़ें और निर्णय करें, यह कहाँ तक तथ्य और सत्य से पूर्ण है।

देवभाषा-प्रकाशन

दारागंज, इलाहाबाद—६